

ISSN 0972-1002

# श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXIV

No. I

January-March 2013



तीर्थङ्कर नेमिनाथ का जन्म कल्याणक मनाती हुई ५६ दिक्कुमारियाँ

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Established : 1937



# श्रमण

## ŚRAMAᅇA

(Since 1949)

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXIV

No. I

January-March 2013

*Editor*

**Prof. Sudarshan Lal Jain**



**Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi**

**(Established: 1937)**

*(Recognized by Banaras Hindu University  
as an External Research Centre)*

## ADVISORY BOARD

**Dr. Shugan C. Jain**

Chairman, New Delhi

**Prof. Cromwell Crawford**

Univ. of Hawaii

**Prof. Anne Valley**

Univ. of Ottawa, Canada

**Prof. Peter Flugel**

SOAS, London

**Prof. Christopher Key Chapple**

Univ. of Loyola, USA

**Prof. Ramjee Singh**

Bheekhampur, Bhagalpur

**Prof. Sagarmal Jain**

Prachya Vidyapeeth, Shajapur

**Prof. K.C. Sogani**

Chittaranjan Marg, Jaipur

**Prof. D.N. Bhargava**

Bani Park, Jaipur

**Prof. Prakash C. Jain**

JNU, Delhi

## EDITORIAL BOARD

**Prof. M.N.P. Tiwari**

B.H.U., Varanasi

**Prof. K. K. Jain**

B.H.U., Varanasi

**Dr. A.P. Singh, Ballia**

**Prof. Gary L. Francione**

New York, USA

**Prof. Viney Jain,**

Gurgaon

**Dr. S. P. Pandey, PV, Varanasi**

ISSN: 0972-1002

## SUBSCRIPTION

### *Annual Membership*

For Institutions : Rs. 500.00, \$ 50

For Individuals : Rs. 150.00, \$ 30

### *Life Membership*

For Institutions : Rs. 5000.00, \$ 250

For Individuals : Rs. 2000.00, \$ 150

Per Issue Price : Rs. 50.00, \$ 10

**Membership fee & articles can be sent in favour of Parshwanath**

**Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5**

### ***PUBLISHED BY***

**Shri Indrabhoothi Barar, for Parshwanath Vidyapeeth, I. T. I. Road,**

**Karaundi, Varanasi-221005, Ph. 0542-2575890**

**Email:**

**pvpvaranasi@gmail.com**

**NOTE:** The facts and views expressed in the Journal are those of authors only. (पत्रिका में प्रकाशित तथ्य और विचार लेखक के अपने हैं।)

**Theme of the Cover : तीर्थङ्कर नेमिनाथ का जन्म कल्याणक मनाती हुई**

**५६ दिक्कमारियाँ।**

**Printed by-** Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

## Contents

From Chairman's Desk	iv
सम्पादकीय	v-vi
१. जैन कला और परम्परा की दृष्टि से काशी का वैशिष्ट्य प्रो. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, डॉ. आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव	1-9
२. विन्ध्य क्षेत्र के दिगम्बर जैन तीर्थ तथा उनके सांस्कृतिक प्रदेश डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय	10-26
३. जैन पुराणों में सामन्त व्यवस्था डॉ. प्रत्यूष कुमार मिश्र	27-32
४. १२वीं से १५वीं सदी के मध्य जैन समुदाय की स्थिति डॉ. शिव शंकर श्रीवास्तव	33-44
5. History & Doctrinal Aspects of Jainism Dr. Shugan C Jain	45-57
6. Rituals & Healing: The Case of the Jain Community in Medieval India Dr. Shalin Jain	58-77
स्थायी स्तम्भ	
जिज्ञासा समाधान	78-80
पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार	81-83
जैन जगत्	84-86
साहित्य-सत्कार	
पुस्तक समीक्षा	87-88
साभार प्राप्ति	89
Our Contributors	90



## **From the Chairman's Desk**

I am pleased to present the first issue of Śramaṇa for the year 2013. From this issue we have started to have all the articles /papers received to be reviewed by subject-matter experts and have them updated, based on the comments of the experts. Since we wish to limit the publication of the papers to 6 to 8 per issue, we are proposing to have four more papers presented as summary in Śramaṇa and the detailed papers available in electronic issue of Śramaṇa on our website [www.pv-edu.in](http://www.pv-edu.in) . We shall use this system for all the articles to be published in Śramaṇa.

As promised earlier we have dedicated this issue to Jain history, culture and society. We had received large number of papers for publication in this issue. However due to various reasons cited earlier and other administrative procedures, we are publishing only four papers in Hindi and two in English. The summaries for unpublished papers will be included from next issue and the a papers put on our website thence. On behalf of the Journal I thank all the expert scholars who responded to our request to send their papers.

I am also pleased to welcome back Prof . Sudarshan Lal Jain, recipient of President's award for his lifelong contribution in Jain studies and its languages as the Honorary editor of this journal. I am sure that Śramaṇa will attain higher academic standards with his association as editor of this journal.

As always we look forward to your comments to the overall set up, changes to be introduced and selection of papers also besides the papers published.

Wishing you an academically enjoyable reading of the journal.

**Shugan C Jain**

## सम्पादकीय

प्रस्तुत अंक के संदर्भ में :-

जैन धर्म के इतिहास के संदर्भ में जैनैतरों में बड़ा भ्रम है कि इसका उद्भव भगवान् महावीर के काल से हुआ है जबकि परम्परा से इसे अनादि माना जाता है। वर्तमान इतिहास की दृष्टि से भी जैनों के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव तथा वातरशना केशी आदि मुनियों के उल्लेख हमें वेदों में प्राप्त होते हैं। जैन पुराणों (पद्म पुराण ३.२८८, हरिवंश पुराण, ९.२०४) में ऋषभदेव के जीवन के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ प्राप्त होती हैं प्रायः वैसी ही सूचनाएँ हिन्दुओं के भागवत् पुराण के पंचम स्कन्ध के प्रथम छः अध्यायों में प्राप्त होती हैं। वहाँ भी भगवान् ऋषभ को नाभि- मेरु (मरु) पुत्र तथा भरत के पिता के रूप में बतलाया है, वे नग्न (वीतरागी, गृहत्यागी, दिगम्बर) होकर प्राकृतिक वातावरण में रहते थे और तपःसाधना के द्वारा कैवल्य प्राप्त किया था। समस्त जैन तीर्थङ्करों में सिर्फ ऋषभदेव के मस्तक पर केशों (बालों) के कारण उन्हें केशरी कहा जाता है।

ऋग्वेद में प्राप्त अनेक उल्लेखों ४.५८.३, १०.१०२.६, ७.२१.५, १०.९९.३ से स्पष्ट है कि वैदिक काल में श्रमण-संस्कृति का अस्तित्व था जिसका परिवर्तित रूप महादेव 'शिव' में दिखलाई पड़ता है। इससे इतना तो सिद्ध है कि श्रमण जैन संस्कृति वैदिक काल में थी। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त अवशेषों से भी इसकी प्रचीनता सिद्ध है। विष्णु के अवतारों में भी ऋषभदेव का नाम आता है। इक्कीसवें तीर्थङ्कर नमिनाथ की अनासक्त वृत्ति के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। नमि मिथिला के राजा थे तथा राजा जनक के पूर्वज थे। बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ का वासुदेव कृष्ण के साथ चचेरे भाई का संबन्ध था। तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन्म महावीर से २५० वर्ष पूर्व हुआ था। इस तरह जैन श्रमण परम्परा की ऐतिहासिकता और प्राचीनता स्वयं सिद्ध है।

जैन वास्तुकला, मंदिर निर्माण कला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि का भी गौरवपूर्ण इतिहास है। जैन गुफाओं और जैन शिलालेखों से भी इसके प्रमाण मिलते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर यह अंक जैन इतिहास, संस्कृति, कला एवं स्थापत्य को समर्पित है। इस अंक में चार लेख हिन्दी के और दो लेख अंग्रेजी के दे रहे हैं।

## मुखपृष्ठ-चित्र-परिचय: तीर्थङ्कर नेमिनाथ का जन्म कल्याणक मनाती हुई ५६ दिक्कुमारियाँ।

तीर्थङ्कर नेमिनाथ (अर्हत् अरिष्टनेमि) को जैन शास्त्रों में श्रीकृष्ण का चचेरा भाई बतलाया गया है। कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन अपराजित नामक देवलोक से तैत्तीस सागरोपम आयु पूर्ण कर अर्हत् अरिष्टनेमि का जीव जम्बूद्वीप के भारतवर्ष क्षेत्र के शौर्यपुर (सौरीपुर) नगर के राजा समुद्रविजय की भार्या शिवादेवी की कुक्षि में मध्यरात्रि के समय चित्रा नक्षत्र में गर्भ में अवतरित होता है। गर्भ-कल्याणक के पश्चात् नौ मास पूरे होने पर वह जीव श्रावण शुक्ला पंचमी को चित्रा नक्षत्र में माता की कुक्षि से जन्म लेता है। जन्म (जन्म-कल्याणक) के समय ५६ दिक्कुमारियाँ (देवलोक की युवा देवियाँ) देवराज सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से माता की सेवा में उपस्थित होती हैं। इस चित्र में सूतिका कर्म आदि करती हुई दिक्कुमारियाँ, पर्यङ्कासनस्थ बालरूप अरिष्टनेमि तथा माता शिवादेवी दिख रही हैं। ऊपर देवलोक के देवगण प्रसन्नतापूर्वक स्तुति करते हुए दिखाई पड़ रहे हैं। अरिष्टनेमि का जन्म होने पर इन्द्र-पत्नी शची बालक को सूतिका गृह से बाहर लाकर तथा मायावी पुत्र को माता के पास रखकर इन्द्र को देती हैं। तत्पश्चात् देवों के साथ इन्द्र सुमेरु पर्वत-शिखर पर जाकर उनका जन्मकृत जलाभिषेक करते हैं। अनन्तर अरिष्टनेमि ३०० वर्षों तक गृहस्थाश्रम में रहकर रैवतक पर्वत पर हजार पुरुषों के साथ जिनदीक्षा ले लेते हैं। जिनदीक्षा के पूर्व श्रीकृष्ण राजीमती के साथ उनके विवाह का आयोजन करते हैं। परन्तु विवाह में भोज हेतु पिंजड़ों में बन्द पशुओं के आर्त्तनाद को सुनकर वे विवाह करने से मना कर देते हैं। राजीमती भी जिनदीक्षा ले लेती हैं। अरिष्टनेमि गिरनार पर्वत की चोटी पर स्थित बाँस के वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए चित्रा नक्षत्र में केवलज्ञानी होकर अर्हत् हो जाते हैं (केवलज्ञान कल्याणक)। कुछ कम सात सौ वर्षों तक केवल ज्ञानी अर्हत् (जीवन्मुक्त) रहने के बाद १००० वर्ष की आयु पूर्ण होने पर आषाढ़ शुक्ल अष्टमी के दिन गिरनार पर्वत से मोक्ष (सिद्धत्व या निर्वाण) को प्राप्त हुए (निर्वाण कल्याणक)। तब से गिरनार पर्वत भगवान् नेमिनाथ की निर्वाण भूमि के रूप में पूज्य हो गई। (देखें, श्री कल्पसूत्र, पृष्ठ १५६)

प्रो. सुदर्शन लाल जैन

# जैन कला और परम्परा की दृष्टि से काशी का वैशिष्ट्य

प्रो.मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी  
डॉ. आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव

जैन कला के मनीषी लेखक द्वय का यह लेख काशी की जैन कला और परम्परा का समीचीन तथा प्रामाणिक चित्रण प्रस्तुत करता है। तीर्थङ्करों (सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, श्रेयांसनाथ और पार्श्वनाथ) के जन्म से पवित्र काशी का जैनकला की दृष्टि से गौरवशाली इतिहास रहा है। तीर्थङ्कर ऋषभदेव और महावीर की विशिष्ट मूर्तिकला का भी लेखक ने चित्रण किया है। बड़ी विशेषता यह भी है कि लेखक द्वय ने तीनों परम्पराओं का निष्पक्ष चित्रण किया है। - सम्पादक

जैन ग्रन्थों में काशी जनपद और उसकी राजधानी वाराणसी का अनेकशः उल्लेख हुआ है। अनुमानतः वर्तमान में वाराणसी जिले के क्षेत्र को ही प्राचीन काशी का क्षेत्र मान सकते हैं। गुप्तकाल से वर्तमान युग तक काशी में जैन धर्म और कला के प्रमाण मिलते हैं। जैन परम्परा के अनुसार २४ तीर्थङ्करों में से चार तीर्थङ्करों का जन्म काशी के विभिन्न क्षेत्रों में हुआ था। सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ और २३वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी में क्रमशः भदौनी और भेलूपुर मुहल्ले में हुआ जबकि आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ का जन्म वाराणसी से पन्द्रह किलोमीटर पूर्व गंगा के किनारे स्थित चन्द्रपुरी में हुआ। ११वें तीर्थङ्कर श्रेयांसनाथ की जन्मस्थली सिंहपुरी थी जिसकी सम्भावित पहचान सारनाथ से की जाती है। सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ को केवलज्ञान भी वाराणसी में ही प्राप्त हुआ था, ऐसा एक मत है। यात्राक्रम में महावीर का भी वाराणसी आगमन हुआ था। जैनग्रन्थों के अनुसार तीर्थङ्करों के पंचकल्याणकों से सम्बद्ध स्थान स्वतः पवित्र बन जाते हैं। फलतः जैनधर्म की दृष्टि से काशी का महत्त्व स्वतः सिद्ध है।<sup>१</sup>

काशी में गुप्तकाल से २०वीं शती ई. के मध्य की यथेष्ट जैन मूर्तियां मिली हैं जो वर्तमान में भारत कला भवन, वाराणसी, राज्य संग्रहालय, लखनऊ और पुरातत्त्व संग्रहालय, सारनाथ तथा स्थानीय जैन मन्दिरों में सुरक्षित और प्रतिष्ठित हैं। वक्षःस्थल में श्रीवत्स चिह्न और शीर्ष भाग में त्रिचक्र (जैनधर्म के रत्नत्रयी सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र के सूचक) से युक्त तीर्थङ्कर मूर्तियों को केवल ध्यान और तपस की दो पारम्परिक मुद्राओं में ही निरूपित किया गया। मूर्तियों में तीर्थङ्कर या

तो ध्यानमुद्रा में बैठे हैं या कायोत्सर्गमुद्रा में दोनों हाथ नीचे लटकाकर खड़े हैं। काशी के जैन मन्दिर और मूर्तियां श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं से सम्बन्धित हैं। जैन कला का प्रारम्भिक उदाहरण एक प्रतीक पट्ट है जिसे लेखक ने ही सारनाथ संग्रहालय के आरक्षित संग्रह में देखकर पहचाना और संग्रहालय की जैन वीथिका में प्रदर्शित करवाया। इस प्रतीक पट्ट को अनुमानतः कुषाणकाल का माना जा सकता है। इस पट्ट पर प्रारम्भ में बड़े आकार का श्रीवत्स और उसके बाद धर्मचक्र जैसे वृत्त के चारों ओर चार त्रिरत्न बने हैं। यह प्रतीक पट्ट मथुरा के कुषाणकालीन आयाग पट्टों के समकक्ष है।

प्रारम्भिक जिनमूर्तियों में वाराणसी नगर से प्राप्त महावीर की सिंहलांछन युक्त छठी शती ई. की गुप्तकालीन ध्यानस्थ मूर्ति कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। यह मूर्ति भारत कला भवन, वाराणसी (क्रमांक १६१) में सुरक्षित है। राजघाट से मिली और भारत कला भवन वाराणसी (क्रमांक २१२) में संगृहीत यक्ष एवं यक्षी (अम्बिका) से युक्त सातवीं शती ई. की दूसरी मूर्ति नेमिनाथ की है।<sup>२</sup> दोनों ही मूर्तियों में तीर्थङ्कर ध्यानमुद्रा में विराजमान हैं। ७वीं से १२वीं ई. के मध्य की ऋषभनाथ, अजितनाथ, सुपाश्वर्षनाथ, विमलनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ की स्वतंत्र मूर्तियों और जिन-चौमुखी (प्रतिमा सर्वतोभद्रिका) के उदाहरण स्थानीय एवं लखनऊ संग्रहालयों में तथा वाराणसी के जैन मन्दिरों में सुरक्षित हैं। मन्दिरों की मूर्तियां अधिकांशतः १४वीं से २०वीं शती ई. के मध्य की हैं। इनमें मुख्यतः तीर्थङ्करों एवं यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएं ही स्थानीय जैन मन्दिरों में प्रतिष्ठित हैं।

मन्दिरों में सुपाश्वर्षनाथ और पार्श्वनाथ की ही सर्वाधिक मूर्तियां हैं। यह दूसरी बात है कि प्रारम्भिक मूर्तियां महावीर और नेमिनाथ की हैं। स्मरणीय है कि काशी सुपाश्वर्षनाथ और पार्श्वनाथ की जन्मस्थली रही है। प्रसंगवश दोनों ही तीर्थङ्करों से सर्प सम्बद्ध हैं जिनके साथ सर्पफणों का छत्र है। पार्श्वनाथ के साथ तो लांछन भी सर्प ही है। इस तथ्य को शिव से या नागपूजन की लोक-परम्परा से सम्बन्धित किया जा सकता है। काशी शिव की नगरी रही है और शिव के विभिन्न नामों में अहीश और नागेश नाम भी मिलते हैं। काशी नागवंश और नागपूजन की परम्परा का भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। आज भी नागपंचमी के रूप में हम नागपूजन का विशेष पर्व मनाते हैं।

जिनप्रभसूरि कृत **कल्पप्रदीप** या **विविध तीर्थकल्प** (१४वीं शती ई.) के वाराणसी कल्प में काशी के पार्श्वनाथ मन्दिर का उल्लेख हुआ है।<sup>३</sup> वर्तमान में भेलपुर स्थित पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर की तीर्थङ्कर मूर्तियों के पीठिका- लेखों में दी गई



तिथियों (१०वीं से १६वीं शती ई. के मध्य) से भी कल्पप्रदीप के सन्दर्भ की पुष्टि होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थल पर ११वीं-१२वीं शती ई. में विशाल पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माण हुआ था। कल्पप्रदीप की एक अन्य महत्वपूर्ण सूचना के अनुसार देव-वाराणसी में, जहां विश्वनाथ का मन्दिर था, २४ तीर्थङ्करों का सामूहिक अंकन करने वाले पट्ट (चतुर्विंशति-जिन पट्ट) की भी पूजा होती थी। बनारसीदास ने अपनी आत्मकथा अर्द्धकथानक (१७वीं शती ई.) में भी बनारस स्थित पार्श्वनाथ मन्दिर का उल्लेख किया है। सारनाथ स्थित श्रेयांसनाथ मन्दिर और चन्द्रपुरी के चन्द्रप्रभ मन्दिर के अतिरिक्त काशी के अन्य सभी जैन मन्दिर सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ तीर्थङ्करों को ही समर्पित हैं।

काशी के सभी उपलब्ध जैन मन्दिर १८वीं से २०वीं शती के मध्य के हैं। नागर शैली के मन्दिर, सम्मुख योजना में अर्धमंडप, मंडप और गर्भगृह से युक्त हैं। गर्भगृह में सामान्यतः मुख्य तीर्थङ्कर मूर्ति के अतिरिक्त अन्य कई तीर्थङ्करों की भी मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। तीर्थङ्कर मूर्तियां सामान्यतः गर्भगृह में बनीं स्वतन्त्र वेदियों पर स्थापित हैं। इनमें अधिकांशतः तीर्थङ्करों के साथ पार्श्ववर्ती आकृतियों का अंकन नहीं हुआ है। सुपार्श्वनाथ को समर्पित तीन मंदिर (एक श्वेताम्बर और दो दिगम्बर) भदौनी मुहल्ले में गंगा तट पर स्थित हैं। श्वेताम्बर मन्दिर विक्रम सं. १८२५ (१७६८ई.) का है, जिसे शाहगोवर्धन के पुत्र सर्वपद सूरि ने बनवाया था जबकि दिगम्बर मन्दिर विक्रम सं. १९१२ (१८५५ई.) में गणेशी लाल के पुत्रों द्वारा बनवाया गया था, एक दिगम्बर मन्दिर स्याद्वाद महाविद्यालय में भी है। पार्श्वनाथ मन्दिर मैदागिन, गोलघर, भेलूपुर, खोजवां और रामघाट में हैं। नरिया में तीर्थङ्कर महावीर का प्रमुख मन्दिर है। मैदागिन का दिगम्बर मन्दिर लगभग १२५ वर्ष पूर्व बिहारीलाल जैन ने बनवाया था। गोलघर का दिगम्बर मन्दिर पंचायत मन्दिर है। खोजवां, नरिया, भेलूपुर, के मन्दिर भी दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं। रामघाट का मन्दिर श्वेताम्बर मन्दिर है। भेलूपुर में पार्श्वनाथ के तीन मन्दिर हैं, जिनमें से दो दिगम्बर और एक श्वेताम्बर परम्परा का है। दिगम्बर मन्दिरों में एक विक्रम सं. १९२५ (१८६८ई.) का है, जिसका निर्माण वाराणसी के खड्गसेन उदयराज ने भेलूपुर में करवाया था।

काशी में भेलूपुर स्थित श्वेताम्बर जैन मन्दिर परिसर में २०००ई. में पार्श्वनाथ को समर्पित एक नये और विशाल श्वेताम्बर मन्दिर का निर्माण हुआ। स्थापत्य, मूर्तिशिल्प और प्रतिमालक्षण की दृष्टि से यह मन्दिर १०वीं से १५वीं शती ई. के बीच के गुजरात और राजस्थान के श्वेताम्बर मन्दिरों, मूर्तियों और उनके लक्षणों के प्रभाव को दर्शाता है। गर्भगृह, गूढमण्डप, रंगमण्डप, और त्रिकमण्डप से युक्त मन्दिर

के रंगमण्डप के भीतरी भाग में संगमरमर का तथा रंगमण्डप के तीन ओर के प्रवेशद्वारों के निर्माणों में काष्ठ का और मन्दिर के अन्य भागों (स्तम्भों, शिखरों, बाह्यभित्तियों) के निर्माण में भरतपुर के समीप से प्राप्त गुलाबी रंग के बलुए पत्थर का प्रयोग किया गया है। इस मन्दिर का वास्तु गुजरात के सोमपुरा परिवार ने तैयार किया था। यह परिवार मन्दिर और मूर्तिनिर्माण से पिछली कई शताब्दियों से जुड़े हैं। इसी कारण गुजरात और राजस्थान के कुम्भारिया, दिलवाड़ा, तारंगा, राणकपुर, जैसे श्वेताम्बर मन्दिरों के स्थापत्य, मूर्तिशिल्प और प्रतिमालक्षण का प्रभाव काशी के प्रस्तुत पार्श्वनाथ जैन मन्दिर पर स्पष्टतः देखा जा सकता है। यह मन्दिर एक ओर प्राचीन परम्परा की निरन्तरता और वर्तमान में उसके महत्त्व को स्थापित करता है, तो दूसरी ओर काशी में पश्चिम भारतीय शैली और लक्षणों की उपस्थिति का भी साक्षी है।

पश्चिम भारत के प्राचीन श्वेताम्बर मन्दिरों के समान ही पार्श्वनाथ मन्दिर के रंगमण्डप, और त्रिकमण्डप के स्तम्भों एवं प्रवेशद्वारों पर श्वेताम्बर जैन देवियों का अनेकत्र रूपायन हुआ है। इन देवियों में जैन यक्षियां भी हैं, महाविद्याएं भी हैं और सरस्वती (वीणा, पुस्तक, और पद्मधारिणी और कभी-कभी मयूरवाहनी) तथा लक्ष्मी जैसी देवियां भी हैं। इनकी भाव भंगिमा, अलंकरण सज्जा, रथिका संयोजन और कभी-कभी कुछ विशिष्ट मूर्तस्वरूप भी जैसे मंजीरा बजाती हुई नृत्यशैली में बनी चतुर्भुजा देवियां, कुम्भारिया एवं दिलवाड़ा के जैन मन्दिरों का स्मरण कराती हैं। यक्षियों में मुख्यतः चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती और सिद्धायका की मूर्तियां उकेरी हैं। यक्षियों एवं अन्य देवियों के निरूपण में श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ **निर्वाणकलिका** (पादलिप्तसूरिकृत १०वीं-११वीं शती ई.), **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित** (हेमचन्द्रकृत १२वीं शती ई.), **मंत्राधिराजकल्प** (सागरचन्द्रसूरिकृत ११वीं-१२वीं शती ई.) तथा **आचार दिनकर** (वर्द्धमानसूरिकृत १४१२ ई.) जैसे ग्रन्थों का पालन किया गया है। यक्षियों में पद्मावती की सर्वाधिक मूर्तियां हैं क्योंकि पद्मावती पार्श्वनाथ की यक्षी है और मन्दिर भी पार्श्वनाथ को समर्पित है। यक्षियों एवं अन्य देवियों को द्विभंग, त्रिभंग, अतिभंग में और कभी-कभी ललितसीन भी दिखाया गया है। सभी उदाहरणों में देवियां चतुर्भुजा हैं और सामान्यतः उनके साथ वाहन भी दिखाये गये हैं।

भेलूपुर के पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर में संवत् १०४० (९८३ई.) के लेख से युक्त ऋषभनाथ की एक विशाल ध्यानस्थ मूर्ति सुरक्षित है जिसमें वृषभ लांछन सिंहासन के मध्य उत्कीर्ण है। मूर्ति की पीठिका पर नवग्रहों का भी अंकन हुआ है। इस मूर्ति का वैशिष्ट्य सिंहासन के दोनों छोरों पर यक्ष आकृति के साथ तीन अन्य

देवियों का अंकन है\*, जिनमें से एक स्पष्टतः ऋषभनाथ की यक्षी चक्रेश्वरी हैं, जिन्हें मानवदेहधारी गरुड़ पर आरूढ़ और वरदमुद्रा, चक्र, गदा तथा शंख धारण किये हुए निरूपित किया गया है। अन्य दो देवियों में से एक दो गजों से अभिषिक्त अभिषेक लक्ष्मी हैं, जिनके ऊर्ध्वकरों में पद्म प्रदर्शित हैं, जबकि नीचे का दाहिना हाथ वरदमुद्रा में है और बायें में फल है। तीसरी देवी नेमिनाथ की यक्षी अम्बिका हैं। दिगम्बर परम्परा के शिल्पशास्त्रों के अनुरूप अम्बिका के दाहिने हाथ में आम्रलुम्बि है, जबकि बायें हाथ में गोद में बैठा बालक देखा जा सकता है। इस विलक्षण मूर्ति में ऋषभनाथ की यक्षी के साथ ही गजलक्ष्मी और अम्बिका का अंकन ऋषभनाथ के महत्त्व को प्रकट करता है। ऋषभनाथ की ऐसी ही कुछ मूर्तियां देवगढ़ (मंदिर संख्या २), उरई (जालौन, राज्य संग्रहालय, लखनऊ), खुजराहो (जार्डिन संग्रहालय, शांतिनाथ संग्रहालय, खजुराहो) से भी प्राप्त हैं।

दसवीं शती ई. के अन्त की नेमिनाथ की एक ध्यानस्थ प्रस्तर मूर्ति भदैनौ के (१९वीं शती ई.) दिगम्बर जैन मन्दिर में सुरक्षित है। पीठिका पर लांछन के रूप में शंख के साथ ही एक ओर धन का थैला धारण करने वाले कुबेर यक्ष और दूसरी ओर आम्रलुम्बि धारिणी अम्बिका की आकृतियां उकेरी हैं।

स्वतंत्र मूर्तियों की दृष्टि से भेलूपुर के पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर की सं. १५४८ (१४९१ ई.) की पद्मावती यक्षी की दो मूर्तियां विशेषतः उल्लेखनीय हैं। ये मूर्तियां राजस्थान के जीवराज पापड़ीवाल द्वारा स्थापित की गई हैं जिन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण जैनपुरास्थलों पर असंख्य मूर्तियों का निर्माण करवाया। पद्मावती यक्षी के निरूपण में स्पष्टतः दिगम्बर ग्रन्थों की परम्परा का पालन किया गया। एक उदाहरण में यक्षी दोनों पैर मोड़कर और दूसरे में लीलासन में बैठी हैं। चतुर्भुजा पद्मावती के मस्तक के ऊपर सर्पफणों का छत्र दिखाया गया है, जिसके ऊपर सात सर्पफणों के छत्र वाली पार्श्वनाथ की ध्यानस्थ मूर्ति भी उकेरी है। एक मूर्ति में यक्षी के आसन के समीप उनके पारम्परिक वाहन कुक्कुट को भी दिखाया गया है। पद्मासीन यक्षी के तीन हाथों में पद्म, अंकुश और पद्म स्पष्ट हैं जबकि दूसरे उदाहरण में तीन हाथों में अंकुश, पद्म और अक्षमाला प्रदर्शित है। प्रतिष्ठासारसंग्रह एवं प्रतिष्ठासारोद्धार में कुक्कुट या कुक्कुट सर्पवाहन वाली पद्मावती का चतुर्भुजी, षड्भुजी और चतुर्विंशतिभुजी स्वरूपों में ध्यान किया गया है। तीन सर्पफणों के छत्र वाली पद्मावती के मुख्य आयुध अंकुश, पद्म, अक्षसूत्र और पाश बताये गये हैं।<sup>५</sup>

भदैनौ के सुपार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर (१९वीं शती ई.) के गर्भगृह के बाहर की

रथिका में चतुर्भुज यक्षी उत्कीर्ण हैं जो सुपाश्वर्नाथ की काली यक्षी हैं। दिगम्बर परम्परा यक्षी को वृषभारूढ़ा, चतुर्भुजा तथा करों में घंटा, त्रिशूल (या शूल), फल और वरदमुद्रा धारण किये निरूपित किया गया है।<sup>6</sup> मन्दिर की मूर्ति में भी पद्मासन में विराजमान वृषभावाहन वाली यक्षी के तीन हाथों में फल, घंटा और खड्ग हैं जबकि एक हाथ वरदमुद्रा में है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन मूर्तिकला के विकास की दृष्टि से काशी की जैन मूर्तियां बहुत महत्वपूर्ण हैं। ये मूर्तियां जैनकला के क्षेत्र में हो रहे विकास को दर्शाती हैं। जैन परम्परा में काशी के विशेष महत्व के कारण ही यहाँ जैन धर्म और कला को पल्लवित और पुष्पित होने का पूरा अवसर मिला। प्रतीक पट्ट से गुप्त एवं गुप्तोत्तरकालीन तीर्थङ्कर मूर्तियों के लांछन और यक्ष-यक्षी के प्रारम्भिक अंकन के उदाहरण यहां से मिले हैं जो प्रारम्भ से ही जैन कला की दृष्टि से काशी के महत्व को रेखांकित करते हैं।

राजघाट से ऋषभनाथ (प्रथम तीर्थङ्कर की लगभग १०वीं-११वीं शती ई.) की एक मूर्ति मिली है, जो सम्प्रति भारत कला भवन (क्रमांक १७६) में संग्रहीत है। प्रतिमालक्षण की दृष्टि से यह तीर्थङ्कर मूर्ति पूर्ण विकसित है। ध्यानमुद्रा में अलंकृत आसन पर विराजमान ऋषभनाथ के साथ वृषभलांछन और गोमुख यक्ष तथा चक्रेश्वरी यक्षी रूपायित हैं। ऋषभनाथ की केश-रचना जटा के रूप में प्रदर्शित है और लटें दोनों कन्धों पर लटक रही हैं जो ऋषभनाथ मूर्ति का वैशिष्ट्य है। मूलनायक के साथ सिंहासन, चैत्यवृक्ष, उड्डीयमान, मालाधरों, दुन्दुभिवादक, गजों (घटधारी आकृतियां), चामरधर सेवकों एवं धर्मचक्र का अंकन हुआ है। परिकर में १६ लघु तीर्थङ्कर मूर्तियां भी बनी हैं, जिनमें से कुछ कायोत्सर्ग में निर्वस्त्र हैं। सिंहासन के दाहिने ओर की गोमुख यक्ष की चतुर्भुज आकृति के ऊपर के दो हाथों में पुष्प और नीचे के बाएं हाथ में धन का थैला (नकुलक) है। नीचे का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में है। गोमुख और चक्रेश्वरी के निरूपण में काफी हद तक परम्परा का पालन किया गया है।

भारत कला भवन में राजघाट से प्राप्त पाल शैली की लगभग ११वीं शती ई. की एक तीर्थङ्कर मूर्ति में केवल सिर का भाग ही अवशिष्ट है। भारत कला भवन में सुरक्षित (क्रमांक १९७) मूर्ति के मस्तक के ऊपर पांच सर्पफणों का छत्र है जो सुपाश्वर्नाथ का लक्षण है।

भारत कला भवन संग्रहालय में जिन चौमुखी मूर्तियों के ७वीं से ११वीं शती ई. के मध्य के चार उदाहरण सुरक्षित हैं। लगभग ८वीं-९वीं शती ई. की एक विशिष्ट

चौमुखी मूर्ति (क्रमांक ८५) में चार अलग-अलग तीर्थङ्करों को कायोत्सर्ग में दिखाया गया है। वृषभ, गज, मृग (?) एवं सिंह लांछनों के आधार पर उनकी पहचान ऋषभनाथ, अजितनाथ, शान्तिनाथ (?) और महावीर से की जा सकती है।<sup>७</sup> सारनाथ संग्रहालय में विमलनाथ के शूकर लांछन युक्त ९वीं-१०वीं शती की एक कायोत्सर्ग दिगम्बर मूर्ति भी सुरक्षित है।

इस तरह जैन कला की दृष्टि से काशी का पुरातन सम्बन्ध है तथा कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

### सन्दर्भ :-

१. कमलगिरि, मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी एवं विजय प्रकाश सिंह, काशी के मन्दिर और मूर्तियां, अध्याय ९, जैन मन्दिर और मूर्तियां, वाराणसी, १९९८, पृ. ७-१०३।
२. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, एलिमेन्ट्स ऑव जैन आइकानोग्राफी, वाराणसी, १९८३, पृ. १-३३ एवं ४४।
३. जिनप्रभसूरीकृत विविध तीर्थकल्प, सम्पा.- मुनि श्री जिनविजय, सिंधी जैनग्रन्थ माला-१०, कलकत्ता, मुम्बई, १९३४; मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास(द्वितीय संस्करण), वाराणसी, १९८५, पृ. १९८।
४. कमलगिरि, मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी एवं विजय प्रकाश सिंह, पूर्वोक्त, पृ. ९९।
५. प्रतिष्ठासार संग्रह ५.६७-७१, प्रतिष्ठासारोद्धार ३.१.७४, मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, १९८१, पृ. २३५-३६।
६. प्रतिष्ठासार संग्रह, ५.३०।
७. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, 'काशी की जैन कला', उत्तर-प्रदेश पत्रिका (सम्पा.- डॉ. कौशल कुमार राय), १९८४, द्वितीय खण्ड, पृ. २२-२४।

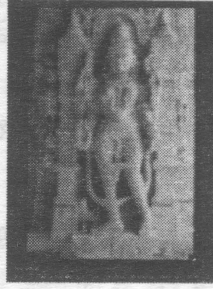
### चित्रसूची :-



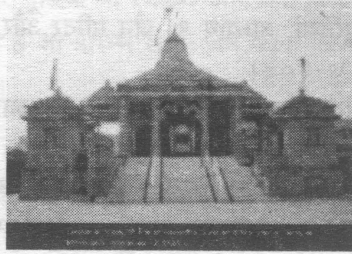
Mahavira, Varanasi, 6th Century A.D.

चित्र-१ : महावीर, वाराणसी, भारत कला भवन (क्रमांक १६१), छठीं शती ई.।





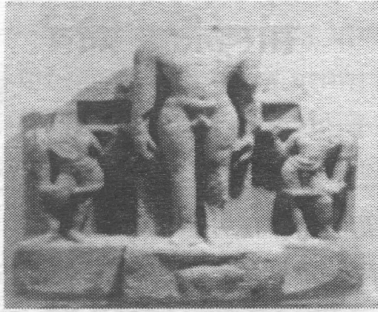
चित्र-१ : सरस्वती, पार्श्वनाथ श्वेताम्बर जैन मन्दिर, भेलूपुर, २०००ई.।



चित्र-२ : पार्श्वनाथ श्वेताम्बर जैन मन्दिर, भेलूपुर, २०००ई.।



चित्र-३ : ऋषभनाथ, वाराणसी, पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, भेलूपुर,(वाराणसी)  
१८३ई.।



चित्र-६ : विमलनाथ, वाराणसी, सारनाथ संग्रहालय, ९वीं शती ई.।



चित्र-५ : नेमिनाथ, (राजघाट) वाराणसी, भारत कला भवन (क्रमांक २१२)।  
७वीं शती।



चित्र-७ : पद्मावती यक्षी, पार्श्वनाथ श्वेताम्बर जैन मन्दिर, २०००ई.।

# विन्ध्य क्षेत्र के दिगम्बर जैन तीर्थ तथा उनके सांस्कृतिक प्रदेय

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय

विन्ध्य क्षेत्र के सिहौनिया, ग्वालियर, मनहरदेव, सोनागिरी आदि २४ तीर्थक्षेत्रों का परिचय इस आलेख में दिया गया है। लेखक ने विन्ध्य को कहीं-कहीं मध्यप्रदेश और कहीं-कहीं बुंदेलखण्ड के साथ सम्मिलित किया है और कहीं-कहीं पृथक् करके भी दिखलाया है। लेखक ने मध्यप्रदेश को चार जनपदों में बांटा है- १. चेदि २. सुकोशल ३. दशार्ण-विदर्भ तथा ४. मालव अवन्ती जनपद। चेदि को आपने बुंदेलखण्ड का भाग माना है। विन्ध्य में स्थित तीर्थक्षेत्रों को आपने दिगम्बरों के बतलाये हैं तथा उनका धार्मिक और पुरातात्विक महत्त्व भी स्वीकार किया है। - सम्पादक

विश्वधर्म एवं संस्कृतियों के इतिहास में जैन धर्म का एक विशिष्ट स्थान है। वैचारिक उदारता, दार्शनिक गम्भीरता, लोकमंगल की उत्कृष्ट भावना, प्रगतिशीलता, सार्वजनीनता, विपुल साहित्य तथा उत्कृष्ट शिल्प की दृष्टि से विश्वधर्मों के इतिहास में इसका अवदान महत्त्वपूर्ण है। चूंकि भारतीय संस्कृति ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति का समन्वित रूप एक संश्लिष्ट संस्कृति रही है अतः हम उसे किसी चहारदीवारी में बांधकर सम्यक् रूप से उसका अध्ययन नहीं कर सकते। संस्कृति की परिधि काफी व्यापक होती है। इसलिये भारत देश के किसी एक प्रदेश की संस्कृति को जानने के लिये, समझने के लिये हम भले ही उसे किसी क्षेत्र तक सीमित कर दें किन्तु समग्र भारतीय संस्कृति तो विभिन्न धाराओं एवं विभिन्न क्षेत्रों की मिलीजुली संस्कृति है। एक क्षेत्र का दूसरे क्षेत्र पर प्रभाव तो अवश्यम्भावी होता है और इसीलिये सभी क्षेत्रों का अन्तःसम्बन्ध उस संस्कृति को पूर्णता प्रदान करता है।

इतिहास की दृष्टि से देखें तो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से जिस भारतीय संस्कृति की जानकारी हमें होती है उससे यह स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृति के पूर्व भी भारत में एक उच्च संस्कृति का अस्तित्व था जिसमें तप, ध्यान आदि पर बल दिया जाता था। इस उत्खनन में प्राप्त ध्यानस्थ योगियों की सीलें प्रकारान्तर से जैन संस्कृति के उस समय के अस्तित्व को प्रमाणित करती हैं। जैन आगम साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋषिभाषित (ई० पूर्व चौथी शताब्दी) के अनुशीलन से पता चलता है कि उस समय जैनधर्म सम्प्रदाय के रूप में विकसित नहीं हुआ था क्योंकि इस

ग्रन्थ में उल्लिखित सभी ऋषियों को अर्हत् ऋषि, बुद्ध ऋषि एवं ब्राह्मण ऋषि कहा गया है। अतः उस समय अर्हत् ऋषियों की एक समृद्ध परम्परा थी। जिसे निर्ग्रन्थ परम्परा कहा गया है। पार्श्व एवं महावीर की एकीकृत परम्परा निर्ग्रन्थ नाम से जानी जाने लगी। जैन धर्म का प्राचीन नाम हमें इसी निर्ग्रन्थ नाम से ही मिलता है जिसका बौद्ध साहित्य में भी उल्लेख है। 'जैन' शब्द तो महावीर निर्वाण के लगभग १००० वर्ष बाद अस्तित्व में आया। अशोक (तीसरी-चौथी शती ईसा पूर्व), खारवेल (दूसरी शती ईसा पूर्व) आदि के शिलालेखों में जैन धर्म का उल्लेख निर्ग्रन्थ संघ के रूप में ही हुआ है। उत्तर काल में संघ भेद क्यों हुआ? यह चर्चा यहां अभीष्ट नहीं है।

महावीर काल में निर्ग्रन्थ संघ का प्रभाव क्षेत्र- बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा उनके आसपास का प्रदेश ही था। किन्तु महावीर निर्वाण के पश्चात् इन सीमाओं में विस्तार होता गया। ऐतिहासिक साक्ष्यों से पता चलता है कि निर्ग्रन्थ संघ अपने उद्गम-स्थल बिहार से दो दिशाओं में प्रचार अभियान के लिये आगे बढ़ा। एक वर्ग दक्षिण बिहार एवं बंगाल से उड़ीसा के रास्ते तमिलनाडु गया और वहीं से उसने श्रीलंका और स्वर्ण देश की यात्रायें कीं। दूसरा वर्ग उत्तरी बिहार एवं पूर्वोत्तर उत्तर प्रदेश होता हुआ मथुरा गया तथा उज्जयिनी होता हुआ श्रवणबेलगोल गया। प्रथम वर्ग जो श्रीलंका की तरफ गया था और जिसका अस्तित्व वहाँ बौद्धधर्म पहुँचने के पहले था, वह लगभग ईसापूर्व दूसरी शती में बौद्धों के बढ़ते प्रभाव के कारण श्रीलंका से निकाल दिया गया, फलतः वह पुनः तमिलनाडु वापस आ गया। तमिलनाडु में लगभग ईसापूर्व प्रथम शती से ब्राह्मी लिपि में अनेक अभिलेख मिलते हैं जो इस तथ्य के साक्षी हैं कि निर्ग्रन्थ संघ महावीर निर्वाण के लगभग २००-३०० वर्षों पश्चात् तमिल प्रदेश पहुंच गया था। दीपवंस एवं महावंस के अनुसार निर्ग्रन्थ संघ पांचवीं-छठी शताब्दी ईसा पूर्व श्रीलंका पहुंच गया था। निश्चित ही यह संघ तमिलनाडु होता हुआ वहां पहुंचा होगा। दक्षिण और उत्तर की जलवायुगत विशेषता एवं तथ्यों के कारण महावीर निर्वाण के ६०५ वर्ष बाद अर्थात् प्रथम शताब्दी ईस्वी के लगभग श्वेताम्बर एवं दिगम्बर या सचेल तथा अचेल जैसे भेद हुए। इस तथ्य को अनेक अभिलेखीय तथा साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर सुनिश्चित किया जा सकता है। मथुरा के अभिलेख दोनों परम्पराओं के पक्ष में साक्ष्य उपलब्ध कराते हैं। दक्षिण भारत में अचेल निर्ग्रन्थ परम्परा का इतिहास ईस्वी सन् पूर्व की तीसरी-चौथी शती से मिलने लगता है। इसके समर्थन में अभिलेखीय या साहित्यिक साक्ष्यों का नितान्त अभाव है। इस काल के ब्राह्मी लिपि के अनेक जैन गुफा अभिलेख तमिलनाडु में पाये जाते हैं। जैन तमिल साहित्य भी अत्यन्त समृद्ध साहित्य है। ईसा की प्रथम शताब्दी में तमिल देश का

यह निर्ग्रन्थ संघ कर्णाटक के रास्ते उत्तर की ओर बढ़ा। उधर उत्तर का निर्ग्रन्थ संघ सचेल और अचेल दो भागों में विभक्त हो गया। सचेल या श्वेताम्बर परम्परा राजस्थान-गुजरात एवं पश्चिमी महाराष्ट्र होती हुई कर्णाटक पहुंची तो अचेल परम्परा बुन्देलखण्ड एवं विदिशा होकर विन्ध्य और सतपुड़ा को पार करती हुई महाराष्ट्र से होकर उत्तरी कर्णाटक पहुंची। चूंकि यह संघ इन क्षेत्रों से होता हुआ कर्णाटक पहुंचा इसलिये विन्ध्य एवं बुन्देलखण्ड का यह क्षेत्र दिगम्बर वर्चस्व का क्षेत्र हो गया। जैन तीर्थों के इतिहास को देखें तो विन्ध्य के अधिकांश जैन तीर्थ दिगम्बर जैन तीर्थ ही हैं। श्वेताम्बर तीर्थ प्रायः नहीं के बराबर हैं। मध्यप्रदेश के इस क्षेत्र में भारतीय कला एवं संस्कृति का अभूतपूर्व विकास हुआ। जैन मन्दिरों एवं स्थापत्य की दृष्टि से अनेक उत्कृष्ट भवनों का निर्माण हुआ।

तीर्थक्षेत्र का प्रचलन चाहे वे जैन हों, बौद्ध हों या हिन्दू हों, प्रत्येक धर्म एवं सम्प्रदायों में रहा है। जैनधर्म के अन्तर्गत धर्म के प्रतिरूप को ही तीर्थ की मान्यता प्रदान की गयी है। तीर्थ क्षेत्र की दृष्टि से मध्यप्रदेश को चार प्राचीन जनपदों में बांटा जा सकता है- (१) चेदि जनपद, (२) सुकोशल जनपद, (३) दशार्ण-विदर्भ जनपद तथा (४) मालव अवन्ती जनपद। जिनसेन के आदिपुराण में भगवान ऋषभदेव की आज्ञा से इन्द्र ने भारत को जिन ५२ जनपदों में विभाजित किया था उनमें भी मध्यप्रदेश-स्थित सुकोशल, अवन्ती, मालव, दशार्ण और चेदि नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं<sup>१</sup>। मध्यप्रदेश के प्राचीन जनपदों में सुकोशल की सीमायें उत्तर में अमरकंटक में नर्मदा के मुहाने से दक्षिण में महानदी तक तथा पश्चिम में बानगंगा से लेकर पूर्व में हरदा और जोंक नदियों तक फैला हुआ है। यहां कलचुरी राजाओं का शासन था। अवन्ती जनपद मालवा का प्राचीनतम नाम है<sup>२</sup> जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। दशार्ण नाम के दो देशों का उल्लेख मिलता है- जिसकी राजधानी विदिशा थी। चेदि को आज बुन्देलखण्ड के नाम से जाना जाता है। प्राचीन चेदि की सीमायें थीं- पश्चिम में काली सिंध, पूर्व में टोंसा टाड राजस्थान (१.४३) में चेदि की पहचान चंदेरी से की गयी है तथा इसे शिशुपाल की राजधानी बताया गया है। 'आइने अकबरी' के अनुसार यह एक बहुत बड़ा शहर था जिसमें एक किला भी था। डॉ० फ्युहरर, जेनरल कनिंघम एवं डॉ० व्हुलर का मत है कि दहल मंडल या बुन्देलखण्ड ही प्राचीन चेदि है। दहल नर्मदा का तटवर्ती भाग है। गुप्तकाल में कालंजर इसकी राजधानी थी। चेदि को इसकी राजधानी त्रिपुरी के कारण त्रिपुरी भी कहा जाता था<sup>३</sup> जो वर्तमान में तेवर के नाम से जाना जाता है। यह क्षेत्र इतिहास, कला, पुरातत्त्व के अतिरिक्त अतिशय क्षेत्र की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।



इस जनपद के तीर्थों में प्रमुख हैं- सिहौनिया, ग्वालियर, मनहरदेव, सोनागिरि, पनिहार-बरई, खनियाधाना, बजरंगगढ़, थूवौन, चन्देरी, खन्दारगिरि, गुरीलागिरि, बूढ़ी चन्देरी, आमनचार, भियादांत, बीठला, पपौरा, अहार, बन्था, खजुराहो, द्रोणगिरि, रेशन्दीगिरि, पजनारी, बीना-बारहा, पटनागंज, अजयगढ़, कारीतलाई और पतियानदाई। इन तीर्थ क्षेत्रों में कोटि-कोटि निर्ग्रन्थ मुनियों की आत्मसाधना इन पर्वत शिखरों, गुहाओं एवं नदी तटपर बैठकर या कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यान करते सफल हुई है। उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। कुछ मुनियों ने केवल-ज्ञान प्राप्ति पश्चात् गन्धकुटी में विराजमान होकर जगज्जीवों के कल्याण एवं हित साधन हेतु उपदेश दिया और आयु कर्म पूर्ण होने पर यहीं से मुक्त हो गये। कुछ मुनियों पर घोर उपसर्ग हुए और वे अन्तकृत् केवली होकर सिद्ध परमात्मा बन गये। इस क्षेत्र में कुछ ऐसे स्थान हैं जहां मुनियों को निर्वाण प्राप्त हुआ और इसलिये वे क्षेत्र सिद्ध-क्षेत्र के नाम से जाने गये।<sup>५</sup> इनमें पावागिरि, सिद्धवरकूट, चूलगिरि, रेशन्दीगिरि, सोनागिरि एवं द्रोणगिरि प्रमुख हैं। पावागिरि में सुवर्णभद्र आदि चार मुनियों को निर्वाण प्राप्त हुआ था। मालवराज बल्लाल ने इस स्थान पर ९९ मन्दिर बनवाये थे। वर्तमान में ११ मन्दिर उन्नत अवस्था में हैं अन्य मन्दिरों के भग्नावशेष मात्र बचे हैं। सिद्धवरकूट में रावण के दो पुत्र तथा साढ़े पांचकरोड़ मुनि मुक्त हुए जबकि चूलगिरि में इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण को मुक्ति प्राप्त होने के उल्लेख हैं। यहां से ऋषभदेव की कायोत्सर्ग मुद्रा में ८४ फुट ऊंची पाषाण प्रतिमा प्राप्त हुई है।

**रेशन्दीगिरि** का नाम नैनागिरि भी है। यहां से भगवान पार्श्वनाथ के समवसरण में वरदत्त आदि पांच मुनि मोक्ष को प्राप्त हुए।

**द्रोणगिरि**- फलहोड़ी ग्राम के पश्चिम में द्रोणगिरि पर्वत शिखर से गुरुदत्त आदि मुनियों की मुक्ति हुई है। वर्तमान में यह क्षेत्र सेंधपा ग्राम (जिला छतरपुर) के निकट माना जाता है।

**सोनागिरि** से नंग कुमार, अनंग कुमार आदि साढ़े पांच करोड़ मुनि मोक्ष पधारे हैं, ऐसा माना जाता है। अतः यह सिद्ध क्षेत्र है। यह क्षेत्र झांसी-दतिया के निकट है। कुछ लोग अहार को निर्वाण-क्षेत्र मानते हैं। उनकी मान्यता है कि मदनकुमार और विष्कंवल केवली यहां से मुक्त हुए थे। इन सिद्ध क्षेत्रों की अवस्थिति को लेकर विवाद भी है। कुछ लोग यह मानते हैं कि ये अतिशय एवं सिद्ध क्षेत्र अपने स्थान पर नहीं हैं तो कुछ लोग यह मानते हैं कि ये अपने स्थान पर ही हैं। एक वर्ग ऐसा भी है जो इन क्षेत्रों की प्रमाणों के आधार पर सही अवस्थिति की गवेषणा का पक्षधर है।

यह स्थिति अनेक क्षेत्रों के साथ है। अब तो अनेक नये तीर्थ क्षेत्रों का निर्माण हो रहा है। यहां एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि मध्य प्रदेश में किसी तीर्थकर का एक भी कल्याणक नहीं हुआ। उत्तर प्रदेश में १८ तीर्थकरों के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान कल्याणक हुए हैं। बिहार में ६ तीर्थकरों के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान कल्याणक हुए तथा २२ तीर्थकरों के निर्वाण कल्याणक (वर्तमान में यह झारखण्ड राज्य के अन्तर्गत है) हुए। इसी प्रकार गुजरात में भगवान नेमिनाथ के तीन कल्याणक हुए। कुछ लोगों की मान्यता है कि उदयगिरि विदिशा में भगवान शीतलनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान कल्याणक हुए थे, यद्यपि इसका ठोस आधार उपलब्ध नहीं है।

**कला क्षेत्र-** इस क्षेत्र में ऐसे स्थान भी हैं जो न तो सिद्ध क्षेत्र हैं न अतिशय क्षेत्र हैं किन्तु फिर भी कला, पुरातत्त्व और इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इनमें ग्वालियर, अजयगढ़, खजुराहो, पनिहार बरई, त्रिपुरी आदि प्रमुख हैं। इन क्षेत्रों में तीर्थकर मूर्तियां हजारों की संख्या में उपलब्ध हैं। इनमें खड्गासन मूर्तियों की संख्या पद्मासन मूर्तियों की अपेक्षा कम है। विशेष रूप से बुन्देलखण्ड के अतिशय क्षेत्रों पर विशाल अवगाहना वाली शान्तिनाथ भगवान की प्रतिमायें स्थापित करने की परम्परा रही है। ग्वालियर किले की आदिनाथ भगवान की ५७ फीट ऊंची प्रतिमा उंचाई की दृष्टि से दूसरे नम्बर पर है। प्रथम स्थान पर चूलगिरि (बडवानी) की भगवान आदिनाथ की प्रतिमा है जो ८४ फीट ऊंची है। भारत में इससे ऊँची कोई भी प्रतिमा नहीं है। इसी प्रकार चन्देरी की चौवीसी प्रतिमा अपने तरह की एक अलग चौवीसी है। इन मूर्तियों की विशेषता है कि इनका वर्ण शास्त्रों में बताये गये तीर्थकरों के वर्ण के अनुरूप ही है। कालक्रम की दृष्टि से गुप्तकाल के पहले की कोई प्रतिमा इन क्षेत्रों में नहीं मिलती। पुरातत्त्व की दृष्टि से विन्ध्य-प्रदेश, महाकोशल को जैन पुरातत्त्व का गढ़ कहा जा सकता है। यहां कोई वन, पर्वत, जलाशय या दुर्ग नहीं है जहां जैन मूर्तियां खंडित और अखंडित दशा में सैकड़ों की संख्या में न मिलती हों। इन भूभागों में चन्देल, कलचुरि, प्रतिहार, तोमर और परमार शासकों के राज्यकाल में कला का विकास द्रुत गति से हुआ। इस क्षेत्र में मध्ययुग के सन्धि काल की भी कुछ मूर्तियां प्राप्त होती हैं। इस काल में अष्टप्रातिहार्य और नवग्रह युक्त जैन प्रतिमाओं को सिन्दूर पोतकर दूसरे नामों से पूजा अर्चना करने की परम्परा जैनतर परम्परा में भी प्राप्त होती है। जसो, मैहर, उंचेहरा, रीवां आदि में अनेक जैन मूर्तियों को खैरामाई के नाम से पूजा जाता है। अतः यहां के कलाकारों ने कला प्रवृत्तियों को अनूठे ढंग से आत्मसात करके जैन संस्कृति के मौलिक रूप को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। विन्ध्य प्रदेश

में इस युग में विविध स्थानों पर जैन धर्म के सबल केन्द्र रहे। भरहुत स्तूप जैसी विश्वविश्रुत कलाकृति इसी क्षेत्र की देन है। खजुराहो के कलायतन इसी भूमि की उपज हैं। इतना ही नहीं, पुरातन सामग्री के अवशेष जहां भी मिलते हैं वहां जैन सामग्री का बड़ा भाग उपलब्ध है। यहां के कई मकानों की दीवारों, फर्शों और सीढ़ियों में जैन पुरातत्त्व का स्वच्छन्द उपयोग मिलता है। इस क्षेत्र में अनेक मूर्तियां खेत की जुताई करते समय भूगर्भ से निकली हुई सुनी जाती हैं। देवतालाब, मऊ, नागोद, जसो, नचना, उचहरा, मैहर, अजयगढ़, पन्ना, सतना, खजुराहो तथा उनके निकटवर्ती स्थानों पर जैन अवशेषों के ढेर इस बात के साक्षी हैं कि यह सम्पूर्ण भूभाग कभी जैनों का केन्द्र रहा होगा। खजुराहो के ६४ योगिनी मन्दिर की प्रमिति और देवकुलिकाओं को देखकर फर्गुसन ने लिखा है कि मन्दिर निर्माण की यह रीति जैनों की अपनी विशेषता है, अतः मूलतः इसके जैन होने में मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। दिगम्बर परम्परा में बाहुबली की मूर्तियों का प्रचलन प्राचीन काल से चला आ रहा है। विन्ध्य प्रदेश तथा महाकोशल में बाहुबली की मूर्तियां तीर्थकर मूर्तियों के साथ भी अंकित मिलती हैं। इस क्षेत्र का रीवा एक ऐसा स्थान है जहां कलावशेषों की सामग्री अनेक मकानों में लगी है। उन अवशेषों से कई नये मन्दिर बन गये हैं। रीवा के लक्ष्मण बागवाले नूतन मन्दिर का निर्माण गुर्गी के कलापूर्ण अवशेषों से हुआ है। रीवा के कुछ पुरावशेष व्यंकट विद्या सदन में सुरक्षित हैं।

विन्ध्य प्रदेश के तीर्थों का जहां तक सम्बन्ध है, उनके मन्दिरों, मूर्तियों और अन्य पुरातत्त्व शिल्प सामग्री के आनुमानिक निर्माण काल का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है-

५वीं से ८वीं शताब्दी तक- तुमैन (खनियाधाना के निकट) में गुप्त सं० ११६ (सन् ४३५) का एक अभिलेख उपलब्ध हुआ है जिसमें एक हिन्दू मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसी काल में यहां जैन मन्दिर और मूर्तियों की प्रतिष्ठा प्रारम्भ हुई होगी।

९वीं - १०वीं शताब्दी- खजुराहो के घंटी मन्दिर और पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माण १०वीं शताब्दी में हुआ था। पतियानदाई में गुप्तकाल अथवा ९वीं-१०वीं शताब्दी का अम्बिका देवी का मन्दिर जीर्णशीर्ण अवस्था में प्राप्त होता है। इसमें २४ जैन देवियों की मूर्तियां एक शिलाफलक में उत्कीर्ण हैं तथा उनके मध्य में अम्बिका देवी की मूर्ति है।

११वीं-१२वीं शताब्दी की जैन मूर्तियाँ- विन्ध्य प्रदेश में सर्वाधिक जैन मूर्तियां ११वीं-

१२वीं शताब्दी की मिलती हैं। इन मूर्तियों पर कल्चुरि, चन्देल और प्रतिहार कला का पूरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस काल की मूर्तियां रेशन्दीगिरि, बन्धा, अहार, पपौरा, खजुराहो, अजयगढ़, खनियाधाना, घोलाकोट, भियादांत, बीठला आदि क्षेत्रों में प्राप्त होती हैं। १२वीं शताब्दी के उत्तरकालवर्ती मूर्तियां तो प्रायः सभी जगह प्राप्त होती हैं।

इन क्षेत्रों के तीर्थों की एक विशेषता यह भी है कि कुछ क्षेत्र तो वास्तव में मन्दिरों के नगर हैं। सोनागिरि में छतरियों सहित १०० मन्दिर हैं। इसी प्रकार पपौरा में १०७, रेशन्दीगिरि में ५२, मढ़िया में ३२, द्रोणगिरि में २९, शूवौन में २५ तथा पटनागंज में २५ मन्दिर हैं। भोंयरे भी मन्दिरों के ही लघु संस्करण हैं। ये भोंयरे पपौरा, सोनागिरि, रेशन्दीगिरि, आहार, पनिहार, बीना-बरहा तथा बन्धा क्षेत्रों में हैं।<sup>१५</sup>

**अभिलेखः-** मध्य प्रदेश में अधिक महत्वपूर्ण अभिलेख मिलते हैं जो शिलालेख और प्रतिमालेख के रूप में दो प्रकार के होते हैं। सर्वप्राचीन अभिलेख उदयगिरी (विदिशा) के हैं जो गुप्त संवत् १०६ (ई.सं. ४२५) के हैं। इसके बाद के पांच शताब्दियों तक के कोई अभिलेख नहीं मिलते। गयारसपुर में वज्रमठ जैन मन्दिर के निकट स्थित आठ खम्भों में से एक पर उल्लिखित लेख वि.सं. १०३९ का है जिसमें किसी भक्त द्वारा यहां की यात्रा करने का उल्लेख है। इसी प्रकार खुजराहो के घण्टई मंदिर के दो लेख क्रमशः वि. सं. १०११ और १०१२ के हैं। ग्वालियर संग्रहालय में वि. सं. १३१९ का भीमपुर का महत्वपूर्ण लेख सुरक्षित है। प्राप्त सभी मूर्ति लेख ११वीं शताब्दी के हैं। १३वीं शताब्दी के मूर्तिलेख अहार, चूलगिरि, ऊन तथा इस प्रदेश के विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

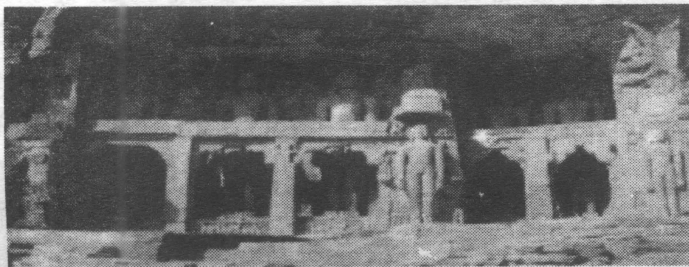
इस प्रकार हम देखते हैं कि विन्ध्य और बुन्देलखण्ड का क्षेत्र सांस्कृतिक सम्पदा से पटा पड़ा है। विशेषकर स्थापत्य और कला के क्षेत्र में तो यह क्षेत्र निःसंदेह अग्रणी क्षेत्र रहा है। यह क्षेत्र मध्यप्रदेश की सांस्कृतिक धरोहर को समेटे प्रचीन समय से भारतीय जनमानस पर अपनी छाप छोड़ता आ रहा है।

अब इन तीर्थ क्षेत्रों में पायी जाने वाली पुरातात्विक सामग्री को संक्षेप में देना अप्रासंगिक नहीं होगा-

**१. सिहौनिया-** अहसिन नदी के तट पर स्थित यह नगर प्रारम्भ से जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है। यहां के राजा सूरजसेन की जैन धर्म में अगाध श्रद्धा थी। १०वीं शताब्दी तक यहां जैन धर्म का प्रचार-प्रसार रहा है उसके पश्चात् मुस्लिम शासकों

ने यहां के मन्दिर को ध्वस्त कर दिया। यहां नवीन जिनालय में भगवान शांतिनाथ की लगभग १६ फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा विराजमान है। इसके दोनों ओर कुन्थुनाथ और अरनाथ की ८-८ फुट ऊंची प्रतिमायें हैं। इसका निर्माणकाल ११वीं शताब्दी है। इसके आस-पास जो अन्य पुरातात्विक सामग्री प्राप्त हुई है अथवा अन्य हिन्दू देवी देवताओं की जो मूर्तियां मिलती हैं उससे पता चलता है कि सिहौनिया मध्ययुग में कला की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था।

**२. ग्वालियर-** इसे दक्षिण भारत का द्वार कहा जाता है। ग्वालियर दुर्ग में पाषाण शिलाओं में उकेरी हुई लगभग १५०० मूर्तियां हैं। अधिकतम अवगाहनावाली मूर्तियों में खड्गासन में आदिनाथ भगवान की ८७ फुट की तथा पद्मासन में सुपार्श्वनाथ भगवान की ३५ फुट की है। यहां उदयगिरि गुहा मन्दिर से लाया गया एक शिलालेख गुप्त संवत् १०६ (सन् ४३५) का है जिसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा के निर्माण कराने का उल्लेख है। दो अन्य शिलालेख १३वीं शताब्दी के हैं। श्वेताम्बर आचार्य शीलविजय एवं आचार्य सौभाग्य विजय ने इसे बावनगजा बताया है। पार्श्वनाथ की पद्मासन प्रतिमाओं में यह सबसे विशाल है। ग्वालियर का केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय यहां के गुर्जरी महल में स्थित है जो इस क्षेत्र की कला और स्थापत्य के अनुपम उदाहरण संजोए हुए है। यहां १३ जैन धर्मशालायें हैं।

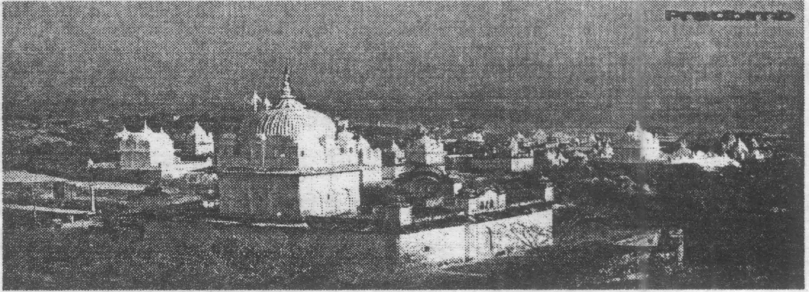


ग्वालियर मन्दिर की भव्य मूर्तियां

**३. मनहरदेव:** श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मनहरदेव ग्वालियर जिले के पिछौर तहसील में एक पहाड़ी पर स्थित एक अतिशय क्षेत्र है। पहाड़ी पर एक जैन मन्दिर तथा तलहटी में भी दो मन्दिर हैं। पहाड़ी पर स्थित मन्दिर में मूलनायक के रूप में सेठ पाडाशाह द्वारा प्रतिष्ठित भगवान शांतिनाथ की १५ फुट ऊंची कायोत्सर्गासन वाली प्रतिमा जो अब सोनागिरि पहुंचा दी गयी है, अत्यन्त मनोहारी है। यहां ११वीं-१२वीं शताब्दी की मूर्तियां उपलब्ध होती हैं।



**४. सोनागिरि-** इसे स्वर्णगिरि तथा श्रमणगिरि भी कहते हैं। यह परम पावन सिद्ध क्षेत्र है। प्राकृत निर्वाणकाण्ड<sup>६</sup> के अनुसार सोनागिरि शिखर से नंग-अनंग कुमार कुल साढ़े पांच करोड़ मुनियों के साथ मोक्ष पधारे। इस गिरि पर ७७ जिनालय, १३ छतरियां, ५ क्षेत्रपाल, तथा तलहटी में कुल १७ जिनालय हैं जिनमें भगवान आदिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, ऋषभदेव, चन्द्रप्रभ एवं महावीर के मन्दिर हैं। यहां के मन्दिर समूह में सबसे प्राचीन मूर्ति वि०सं१२३३ की है।



### सिद्धक्षेत्र सोनागिरि

**५. पनिहार-बरई-** ग्वालियर से आगरा-शिवपुर रोड पर ३२ कि.मी. की दूरी पर दाईं ओर बरई गांव तथा मुख्य सड़क से बाईं ओर पनिहार है। पनिहार का लाल पाषाण द्वारा निर्मित चौबीसी मन्दिर विभिन्न तीर्थकरों की कुल १८ मूर्तियों वाला है। चरण चौकी पर उत्कीर्ण चिन्हों को देखने पर ऐसा नहीं लगता कि ये मूर्तियां तीर्थकरों की हैं। इन मूर्तियों में अब्दुत द्वन्द्व के दर्शन होते हैं। इनकी प्रतिष्ठा संवत् १४२९ में हुई। इन मूर्तियों पर चन्देल कला का प्रभाव परिलक्षित होता है। बरई में पनिहार की मूर्तियों के लगभग १०० वर्षों बाद मन्दिर और मूर्ति का निर्माण हुआ है। यहां ऊंचे टीले पर प्राचीन जैन मन्दिर के भग्नावशेष उपलब्ध हैं जिसमें कुछ गर्भगृह ही बचे हैं। पहले गर्भगृह में १६ फुट ऊंची तीर्थकर प्रतिमा कायोत्सर्गासन में विराजमान है। दूसरे में खड्गासन में १८ फुट ऊंची प्रतिमा विराजमान है। इसी प्रकार तीसरे और चौथे गर्भगृह में तीर्थकर मूर्तियों के अवशेष प्राप्त होते हैं।

**६. खनियाधाना और उसके निकटवर्ती क्षेत्र-** खनियाधाना बसई स्टेशन से ३७ कि.मी. चन्देरी से ५३ कि.मी. तथा शिवपुरी से १०२ कि.मी. दूर अवस्थित है। यहां की प्राचीन मूर्तियों में दो दिगम्बर जैन मन्दिर की हैं इनमें से एक मन्दिर में वि.सं. ११००, १२१० तथा १३१८ की प्राचीन प्रतिमायें विराजमान हैं। इस क्षेत्र को चौरासी दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कहते हैं। खनियाधाना के आसपास मिलनेवाली प्रचुर

जैन पुरातन सामग्री से पता चलता है कि इस क्षेत्र में जैन कला की बहुविध संरचना हुई। इस क्षेत्र में गूडर, गोलाकोट, पचराई अतिशय क्षेत्र भी हैं जिनमें अनेक जैनमन्दिर तथा जैन मूर्तियों एवं मन्दिरों के भग्नावशेष अवस्थित हैं।

**७. बजरंगगढ़** - श्री शान्तिनाथ दिगम्बर अतिशय क्षेत्र बजरंगगढ़ गुना से ७ किमी. दक्षिण की ओर स्थित है। यह पर्वतमालाओं से घिरा होने के कारण अत्यन्त रमणीक है। यहां का सबसे बड़ा अतिशय यहां पर सेठ पाडाशाह द्वारा निर्मित भगवान शान्तिनाथ की १५ फुट ऊंची प्रतिमा, तथा उसके दोनों ओर कुन्थुनाथ की ११ फुट ऊंची कायोत्सर्ग मुद्रा में अवस्थित प्रतिमाएं हैं। मन्दिर के सामने मैदान है जो चहारदीवारी से घिरा है। द्वार पर भव्य छतरी है। तीनों प्रतिमाओं के हाथों के नीचे पृथक्-पृथक् सौधमेंन्द्र और उसकी शची हाथों में चमर लिये हुए हैं। दोनों ओर की दीवारों में पैल हैं जिनमें तीर्थकरों की मूर्तियां बनी हुई हैं। इस मन्दिर के अतिरिक्त दो और मन्दिर बजरंगगढ़ में हैं, एक में भगवान की कृष्णवर्ण की प्रतिमा (संवत् १९४९ की) है तथा तीसरा जिनालय जो चोपेट नदी के किनारे स्थित है, को टरका वाला मन्दिर कहते हैं। इस नगर के मूसागढ़, झरखोन, सारखोन, जैनागर आदि नाम भी मिलते हैं।

**८. थुवौन-** श्रीदिगम्बर अतिशय क्षेत्र थुवौन गुना की मुंगावली तहसील में पार्वत्य प्रदेश में अवस्थित है। इस क्षेत्र से अनेक अतिशय की कहानियां जुड़ी हैं। बौद्ध साहित्य में इसका नाम तुम्बवन प्राप्त होता है जो अब तुमैन है। इस अतिशय क्षेत्र पर मन्दिरों की कुल संख्या २५ है जिनमें भगवान आदिनाथ, अभिनन्दननाथ, अरहनाथ, शान्तिनाथ, चन्द्रप्रभ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की प्रतिमाएं विराजमान हैं।

**९. चन्देरी-** मध्यप्रदेश के गुना जिले में बेतवा नदी के तट पर स्थित चन्देरी भगवान अजितनाथ के मन्दिरों के लिये प्रसिद्ध रही है।<sup>१०</sup> बौद्ध और जैन साहित्य में इस जनपद का उल्लेख मिलता है।<sup>११</sup> यहां की चौबीसी कलापूर्ण एवं तीर्थकरों के ही वर्ण के कारण बुन्देलखण्ड के तीर्थ-क्षेत्रों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। संवत् १३५० के आसपास निर्मित यहां के मन्दिर में २४ तीर्थकरों की पद्मासन-स्थित मूर्तियां हैं। इनमें १६ स्वर्ण की, २ श्वेत वर्ण की, २ श्याम वर्ण की, २ हरित वर्ण की तथा २ रक्त वर्ण की हैं। मुस्लिम इतिहासकारों में अलबेरूनी ने सर्वप्रथम चन्देरी का उल्लेख किया है? यह प्राचीन काल में जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है।

**१०. खन्दारगिरि-** यह क्षेत्र चन्देरी किले के दूसरे तीसरे दरवाजों के बीच चन्देरी से तीन कि.मी. दूर पड़ता है। वर्तमान चन्देरी में कुछ शताब्दी पूर्व बलात्कारगण की

जेरहट शाखा का अत्यधिक प्रभाव था। यहां कुछ भट्टारकों ने अपना उपपीठ भी बना रखा था। यह गुहा मन्दिरों का समूह है। कन्दराओं के कारण इसे कन्दराजी कहा जाने लगा जो बाद में खन्दारगिरि हो गया। पहाड़ के नीचे तलहटी में भट्टारकों की छतरी और चबूतरों के पास एक पाषाणशिला में क्षेत्रपाल उकेरे गये हैं। उसके सामने सड़क के दूसरी ओर एक मानस्तम्भ बना है जिसमें चतुर्मुखी तीर्थकर प्रतिमा विराजमान है। इसके निकट ही धर्मशाला, कुआं तथा पूजनादि के लिये मण्डप बना हुआ है जो यह घोषित करता है कि यहां तीर्थयात्री भारी संख्या में आते रहे होंगे। यहां दो गुफायें क्रमशः १३वीं एवं १६वीं शताब्दी की हैं किन्तु सब मिलाकर ६ गुफायें हैं।

**११. गुरीलागिरि-** श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र गुरीलागिरि ललितपुर चन्देरी मार्ग पर ललितपुर से ३० किमी. की दूरी पर अवस्थित है। यहां भी सेठ पाडाशाह द्वारा निर्मित मन्दिर में भगवान शान्तिनाथ की प्रतिमा है। इस क्षेत्र के अतिशयों में जैन और अजैन दोनों की श्रद्धा है। यहां शान्तिनाथ मन्दिर के निकट दो स्थान उल्लेखनीय हैं— एक सिद्धबाबा दूसरा पाडाशाह घाट। यहां बाद में १०-१२ मन्दिर और बने। एक चौबीसी मन्दिर में दो पद्मासन तीर्थकर मूर्तियां ४८ दलवाले कमल पर विराजमान हैं जिनके सिर कटे हुए हैं। भग्न ६०० मूर्तियां मन्दिर के परकोटे की दीवारों से टिकाकर रखी हैं।

**१२. बूढ़ी चन्देरी-** बूढ़ी चन्देरी वर्तमान चन्देरी से उत्तर और उत्तर-पश्चिम की ओर १४ किमी. दूरी पर स्थित है। शताब्दियों से यहां मन्दिरों के भग्नावशेष पड़े हैं जो १५वीं शताब्दी में हुए हिन्दू शासकों पर मुस्लिम शासकों की बर्बरता का प्रमाण हैं। इस नगर का उल्लेख फारसी इतिहासकार फरिश्ता, इब्रबतूता आदि ने किया है।<sup>९</sup> सन् १३३५ के आसपास तक यह नगर सम्पन्न नगर था जिसकी स्थापना चन्देल राजाओं ने की थी। यह एक पहाड़ी पर स्थित है। यहां जैन शिल्प और स्थापत्य का उल्लेखनीय वैभव बिखरा पड़ा है। संवत् २००१ में जैन समाज ने इसका जीर्णोद्धार किया और सैकड़ों मूर्तियां जमीन खोदकर या जंगलों से प्राप्त की गयीं। यहां की मूर्तियों की विशेषता है कि वे अलंकृत हैं। प्राप्त मूर्तियों से पता चलता है कि प्राचीनकाल में यह तीर्थ रहा होगा किन्तु अब यहां कोई तीर्थ नहीं है।

**१३. आमनचार-** यह चन्देरी से २९ कि.मी. पर अवस्थित है। यहां हर जगह जैन मूर्तियां बिखरी पड़ी हैं जो यहां जैन तीर्थ का सूचक है। गांव के एक मन्दिर में प्राचीन काल का एक सहस्रकूट चैत्यालय है। यह शिल्प सौष्ठव का अद्भुत नमूना है। मूर्तियां ११वीं-१२वीं शताब्दी की प्रतीत होती हैं।

**१४. भामौन-** भामौन बीठला से ६ किमी० तथा महोली सी ८ किमी. दूर है। यहां भी मन्दिरों के भग्नावशेष पड़े हैं जिनमें जैन मूर्तियां बड़ी संख्या में पाई जाती हैं।

**१५. धियादांत-** यह उर्वशी नदी के किनारे चन्देरी-ईसागढ़ रोड से १३ किमी. दूर स्थित है। यहां के मन्दिरों में पद्मासन तीर्थंकर मूर्ति मूलनायक के रूप में प्रतिष्ठित है। ग्रामीण इसे बैठादेव कहते हैं। इस प्रतिमा के कारण इसे अतिशय क्षेत्र कहा जाता है। अहीर, गूजर इसे भीमसेन बाबा कहते हैं।

**१६. बीठला-** यह क्षेत्र चन्देरी से १७ किमी. दूरी पर महोली के निकट गुना जिले में है। यहां से २ फर्लांग पर एक प्राचीन जैन मन्दिर है तथा उसके आस-पास कई मन्दिरों के भग्नावशेष पड़े हैं। इन अवशेषों में भगवान सम्भवनाथ और मुनिसुव्रत की मूर्तियां पहचानी जाती हैं। ये मन्दिर और मूर्तियां लगभग १२ वीं शताब्दी के प्रतीत होते हैं।

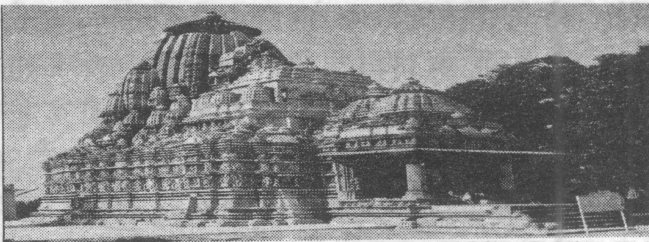
**१७. पपौरा-** पपौरा अतिशय क्षेत्र है। यह टीकमगढ़ जिले में कानपुर-सागर मार्ग पर टीकमगढ़ से ५ किमी. की दूरी पर स्थित है। सुरम्य वृक्षावली से घिरे विशाल मैदान में एक परकोट के अन्दर १०७ गगनचुम्बी मन्दिर हैं जो १२वीं शताब्दी से २०वीं शताब्दी तक के निर्मित हैं। यहां के सबसे प्राचीन चार मन्दिर हैं- महावीर, चन्द्रप्रभ, पार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ मन्दिर। लगभग इसी काल में मेरुमन्दिरों की इसी प्रकार की रचना अहार और सोनागिरि में हुई प्राप्त होती है। यहां स्थित दो भोयरों में से एक में भगवान आदिनाथ की कृष्ण पाषाण की पालिशदार मनोज्ञ प्रतिमा है। इस मूर्ति के दोनों और दो मूर्तियां ८०० वर्ष से कुछ अधिक प्राचीन हैं। इन भोयरों से ऐसा लगता है कि ये भोयरे भी अहार, बन्धा और पपौरा आदि स्थानों के भोयरों के आस-पास के काल में ही बने होंगे। इन भोयरों का उद्देश्य मूर्तियों की सुरक्षा था। यहां मानस्तम्भ और धर्मशालायें भी प्राप्त होती हैं।

**१८. अहार-** श्री दिगम्बर अतिशय क्षेत्र अहारजी टीकमगढ़-बलदेवगढ़ रोड पर टीकमगढ़ से १९ किमी. पर स्थित है। कहा जाता है कि यहां के शान्तिनाथ मन्दिर का निर्माण पाडाशाह ने रांगा के चांदी हो जाने पर उस चांदी के मूल्य से करवाया था। इतिहास ग्रंथों में इसका एक नाम मदनेशासागपुर भी मिलता है। यहां भूगर्भ और बाहर से अनेक खंडित-अखंडित जैन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। कुछ मूर्तियों के लेखों से भट्टारकों के नामों पर प्रकाश पड़ता है। ये नामोल्लेख १२वीं शताब्दी से १८-१९वीं वीं शताब्दी तक के मूर्ति लेखों में मिलते हैं। इन भट्टारकों में माहबसेन, उद्धरसेन, देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, मलयकीर्ति आदि का

उल्लेख मिलता है। भट्टारकों के साथ कुछ आर्यिकाओं के नाम भी मिलते हैं। भट्टारक प्रतिष्ठाकारकों के नाम, नगर आदि के नाम भी प्राप्त होते हैं। यहां स्थित महावीर-पार्श्वनाथ मन्दिर, मेरुमन्दिर, नया मन्दिर, बाहुबली मन्दिर, भूगर्भ जिनालय तथा मानस्तम्भ इस क्षेत्र की गौरवगाथा कहते हैं।

१९. **बन्धा**-टीकमगढ़ जिले के बम्हौरी-बराना से १० किमी. दूरी पर स्थित यह दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र सुरम्य पहाड़ियों के बीच स्थित है। यह बुन्देलखण्ड के प्रसिद्ध सात भोंयरों- पावा, देवगढ़, सीरोन, करगुवां, बन्धा, पपौरा और थूवौन में से एक है। इन भोंयरों में कुछ मूर्तियां ११वीं-१२वीं शताब्दी की प्राप्त होती हैं। बन्धा क्षेत्र के भोंयरे में मूलनायक प्रतिमा भगवान अजितनाथ की है। इस मूर्ति के एक ओर भगवान ऋषभदेव और दूसरी ओर सम्भवनाथ खड्गासन में ध्यानलीन हैं। दोनों का प्रतिष्ठाकाल वि.सं. ११९९ है। इसके आसपास का समूचा क्षेत्र पुरातत्त्व की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है।

२०. **खजुराहो**-भारतीय वास्तु और शिल्पकला के क्षेत्र में खजुराहो का विशिष्ट स्थान है। यह मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले में सतना से १२० किमी. तथा पन्ना से ४३ किमी. पश्चिमोत्तर दिशा में स्थित विश्व प्रसिद्ध पर्यटन केन्द्र है। खजुराहो के हिन्दू और जैन मन्दिर चन्देल राजाओं के शासनकाल की समुन्नत शिल्पकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। जनश्रुति के अनुसार यहां कुल ८५ मन्दिर थे किन्तु प्राचीन मन्दिरों में से अब केवल १० मन्दिर ही विद्यमान हैं। यहां एक ही अहाते में ३२ जिनालय हैं। इसमें पार्श्वनाथ, आदिनाथ आदि कई जिनालय १०वीं-११वीं शताब्दी के बने हुए हैं। इसकी अन्तः तथा बाह्य भित्तियों पर तीर्थकर मूर्तियां, बाहुबली की मूर्ति तथा पौराणिक कथानकों से सम्बन्धित दृश्य जैसे राम सीता आदि तथा तीर्थकरों के सेवक यक्ष-यक्षी, सुरसुन्दरियां विभिन्न आकर्षक मुद्रा में अंकित हैं।



पार्श्वनाथ मन्दिर, खजुराहो (ई.सन् ९५०-९७०)

यहां मन्दिर न०. १ में शान्तिनाथ जिनालय में शान्तिनाथ भगवान की १६ फुट ऊंची खड्गासन मूर्ति संवत् १०८५ (ई०सन् १०२८) की है। मन्दिर न०. ८ में भगवान चन्द्रप्रभ की मूर्ति १२वीं शताब्दी की है। यहां का घंटई मन्दिर १०वीं शताब्दी का है। इस मन्दिर की मूलनायक प्रतिमा भगवान ऋषभदेव की रही होगी क्योंकि प्रवेशद्वार के ललाट बिम्ब पर गरुडारूढ़ा अष्टभुजी चक्रेश्वरी की मूर्ति उत्कीर्ण है। गांव के दक्षिण पश्चिम में जैन मन्दिरों का समूह है। यहां के हिन्दू और जैन मन्दिरों में वास्तुकला की दृष्टि से समानता पायी जाती है सम्भवतः इसका कारण यह है कि दोनों धर्मों के मन्दिर निर्माता स्थपति एक ही थे। खजुराहो के वर्तमान जैन मन्दिरों में १०वीं शताब्दी का पार्श्वनाथ मन्दिर सबसे विशाल और सुन्दर है। वह ६८ फुट २ इंच लम्बा और ३४ फुट ११ इंच चौड़ा है। यह मन्दिर कला वैशिष्ट्य और अद्भुत शिखर संयोजना की दृष्टि से अद्वितीय है। यहां उपलब्ध १२ जैनमूर्तियों में पार्श्वनाथ, महावीर, जैन मन्दिर के द्वार का सिरदल, जैन तीर्थकर, नेमिनाथ की यक्षी अम्बिका अपने दोनों पुत्रों के साथ, तीर्थकर कुन्धुनाथ, ऋषभदेव, यक्षदम्पति, जैन मातृका, सम्भवनाथ, पद्मप्रभ की शासनदेवी मनोवेगा तथा सर्वतोभद्रिका प्रतिमा उल्लेखनीय हैं। यहां के संग्रहालय के जैन कक्ष में कुल १२ जैन मूर्तियां सुरक्षित हैं।

**२१. विदिशा-** विदिशा के जैन क्षेत्र के रूप में प्रतिष्ठित होने के उल्लेख पुरातात्विक अवशेषों के साथ-साथ जैन साहित्य में भी प्राप्त होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार उज्जयिनी के राजा चंडप्रद्योत ने विदिशा में एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। आर्यमहागिरि और सुहस्ति ने विदिशा की यात्रा की थी और यहां प्रस्थापित जीवन्तस्वामी की प्रतिमा का दर्शन भी किया था। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप में इसका विवरण दिया है। रामगुप्त के द्वारा तीन जिनप्रतिमायें यहां स्थापित की गयी थीं। अभिलेख युक्त इन प्रतिमाओं के प्राप्त होने से जैन धर्म के तत्कालीन प्रभाव का पता चलता है। विदिशा के नजदीक उदयगिरि के पहाड़ी पर जो २० गुफाएं हैं इनमें पहली और २०वीं गुफा जैन धर्म से सम्बन्धित है। २०वीं गुफा में सन् ४१६ का एक लेख उत्कीर्ण है।<sup>१०</sup>

**२२. दशपुर-** दशपुर नगर शिवना नदी के तट पर आधुनिक मन्दसौर से समीकृत किया जाता है। शकछत्रप काल में यह तीर्थस्थल के रूप में विद्यमान था।<sup>११</sup> यह गुप्तवंश और औलिकर वंशीय राजाओं की राजधानी थी। कालिदास और वाराहमिहिर ने भी अपने साहित्य में इस नगर का उल्लेख किया है। जिनप्रभ सूरि ने कल्पप्रदीप में यहां सुपार्श्वनाथ का मन्दिर होने का उल्लेख किया है। यहां के निकटवर्ती कोथडी,

कोहला, चैनपुर, केथुली, कुक्कुडेश्वर, बेखेड़ा और संधारा आदि से बड़ी संख्या में मध्ययुगीन जैन प्रतिमाओं और मंदिरों के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं।

२३. **रेशन्दीगिरि**-यहां कुल ५१ जिनालय हैं -३६ पहाड़ी के ऊपर तथा १५ मैदान में। पार्श्वनाथ की मूर्ति जिसके साथ १३ और मूर्तियां निकली थीं सं. ११०९ की है। यहां एक सरोवर के मध्य में जिनालय बना हुआ है।

२४. **द्रोणगिरि**- यह क्षेत्र छतरपुर जिले की बिजावर तहसील में पर्वत के ऊपर अवस्थित है। यहां पहुंचने के लिये २३२ सीढ़ियां चढ़नी पड़ती हैं। द्रोणगिरि तीर्थ क्षेत्र निर्वाण क्षेत्र है। इसके शिखर से गुरुदत्त आदि मुनिगण निर्वाण को प्राप्त हुए। पर्वत के ऊपर कुल २८ जिनालय बने हैं जिसमें तिगोडावालों का मन्दिर सबसे प्राचीन है। इसे बड़ा मन्दिर भी कहते हैं, इसमें भगवान आदिनाथ की एक सातिशय प्रतिमा संवत् १५४९ की विद्यमान है। द्रोणगिरि की तलहटी में सेंधपा ग्राम है जहां एक जैन मन्दिर है। पार्श्वनाथ मन्दिर के नीचे एक प्राकृतिक गुफा भी है। पूज्य गणेशप्रसाद वर्णीजी का सबसे प्रिय क्षेत्र द्रोणगिरि था। यहां यात्रियों के लिये ३ धर्मशालाओं का निर्माण कराया गया है। इसके अतिरिक्त पजनारी, बीना-बराहा, पटनागंज, अजयगढ़, कारीतलाई, पतियानदाई भी मुख्य तीर्थक्षेत्र हैं जहां प्रचुरमात्रा में सांस्कृतिक एवं पुरातात्विक सामग्री प्राप्त होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विन्ध्य और बुन्देलखण्ड क्षेत्र के जो दिगम्बर जैन मन्दिर हैं भले ही वे अपने पुराने रूप में नहीं हैं किन्तु कला एवं स्थापत्य की दृष्टि से वे विशेष और प्राचीन हैं। इनके भग्नावशेषों से पता चलता है कि किसी समय इनका समुन्नत रूप रहा होगा जहां अनेक तीर्थयात्री आते जाते रहे होंगे। आज अधिकांश उस स्थिति में नहीं हैं फिर भी उनका धार्मिक एवं पुरातात्विक महत्त्व निःसंदेह है।

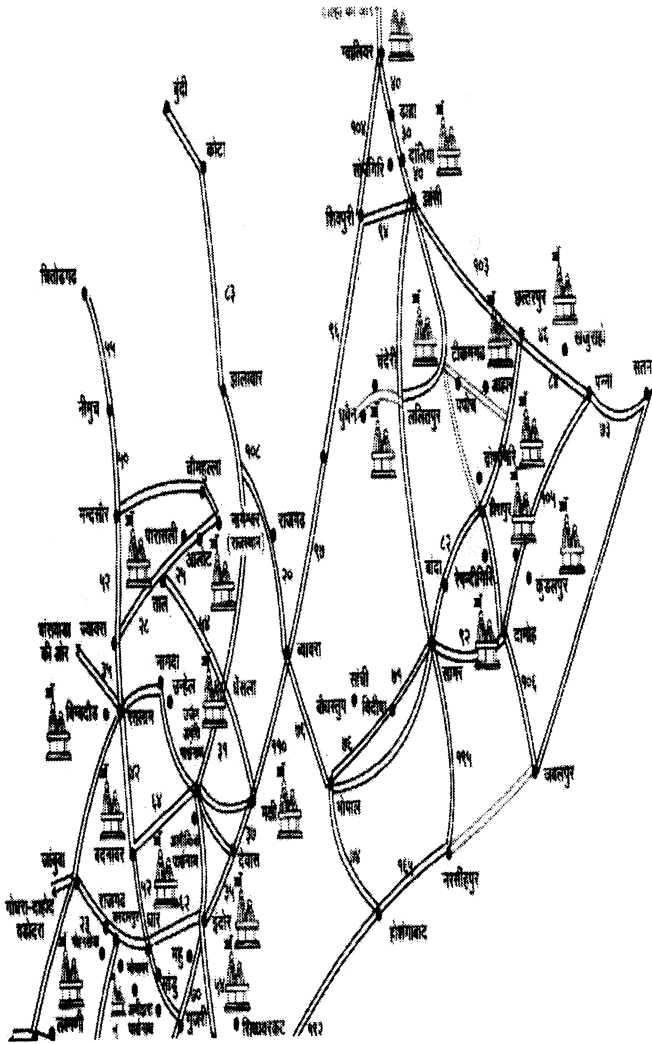
**सन्दर्भ :-**

१. जिनसेन कृत आदिपुराण, भाग-१, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९४४, १६वां पर्व, श्लोक १५२-५६, पृ. ३६०।
२. (अ) कथासरित्सागर, अ० १९।  
(ब) Rhys David's Buddhist India, p. 28.
३. अलबेरूनी का भारत, प्रथम खण्ड, पृ० २०२।
४. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ (भाग-३), बलभद्र जैन, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, हीराबाग, मुम्बई- प्रथम संस्करण, १९७६, पृ० ४।
५. वही पृ० २२।

६. प्राकृत निर्वाणखण्ड-९
७. पाटिल डी० आर०, कल्चरल हेरिटेज आफ मध्यभारत, ग्वालियर, १९५२, पृ० ९९।
८. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ (भाग-३), पृ १०२।
९. सरकार दिनेशचन्द्र, स्टडीज इन ज्याग्रफी आफ एंशिएण्ट एंड मेडिवल इंडिया, दिल्ली १९७८, प० ४३।
१०. लाहा विमलचरण, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृ० ५५९-६०।
११. त्रिवेदी चन्द्रभूषण, दशपुर (भोपाल, १९९७), पृ० १५४।

\*\*\*\*





(‘भारत के दिग्म्बर जैन तीर्थ’ पुस्तक से साभार)

## जैन पुराणों में सामन्त व्यवस्था का दिग्दर्शन

डॉ. प्रत्युष कुमार मिश्रा

लेखक ने बाण के हर्ष चरित का उल्लेख करते हुए सामन्तों के कई प्रकार गिनाए हैं। सामन्त व्यवस्था का उद्भव मौर्यकाल से होकर गुप्तकाल में चरम पर पहुँच गया। अधीनस्थ राजा इनकी आज्ञा का पालन करते थे तथा धन-धान्य के साथ कन्याओं को भी समर्पित करते थे। अधीनस्थ राजाओं को भी सामन्त कहा जाता था। परन्तु वे स्वतन्त्र नहीं होते थे। कभी-कभी परतन्त्र सामन्त अपने प्रधान सामन्त से बगावत भी कर जाते थे परन्तु पराजित होने पर बहुत अधिक अपमानित होते थे। जीतने पर स्वतन्त्र हो जाते थे। जागीरदार (भू-स्वामी) भी एक प्रकार के सामन्त थे। आज भारत में सामन्त व्यवस्था समाप्त हो गई है और प्रजातन्त्र व्यवस्था चल रही है।

- सम्पादक

जैन पुराणों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि जैन पुराणों के प्रणयन काल में सामन्त व्यवस्था भी प्रचलित थी। राजा द्वारा युद्ध-काल में अधीनस्थ सामन्तों को युद्ध में सहयोगार्थ आमन्त्रित करने<sup>१</sup> और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें दूत के रूप में अन्य राजा के यहाँ भेजने का उल्लेख पद्म पुराण में उपलब्ध होता है।<sup>२</sup> जैन पुराणों में यह उल्लेख भी समुपलब्ध है कि अधीनस्थ राजा या सामन्तगण अपने स्वामी को कुलपरम्परानुसार धन-धान्य, कन्या तथा अन्य अनेक वस्तुएँ देकर उनकी आराधना करते थे।<sup>३</sup> म्लेच्छ राजा चामरी गाय के बाल और कस्तूरी मृग की नाभि अपने स्वामी को भेंट में प्रदान करते थे।<sup>४</sup> अधीनस्थ राजा सामन्त वृष, नाग, बानर आदि चिह्नित पताकाएँ धारण करते थे।<sup>५</sup> मण्डलेश्वरों (सामन्तों) के राजाधिराज (राजेन्द्र) के दर्शनार्थ आने का उल्लेख पद्म पुराण में भी प्राप्य है।<sup>६</sup>

जैन पुराणों के उक्त तथ्यों की पुष्टि अभिलेखीय साक्ष्यों से भी होती है। अभिलेखीय साक्ष्यों से यह भी विदित होता है कि गुप्तकाल से सामन्त व्यवस्था का प्राधान्य हो जाता है। जैन पुराणों के प्रणयन काल के जैनैतर साक्ष्यों से भी सामन्त व्यवस्था की पुष्टि होती है।<sup>७</sup> समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति में उत्कीर्ण है कि अधीनस्थ राजा अपने स्वामी को यथाशक्ति धन, सम्पत्ति, एवं कन्या आदि उपहार स्वरूप प्रदान कर स्वामी द्वारा अनुदिष्ट चिह्न धारण करते थे।<sup>८</sup> डॉ. रामशरण शर्मा के मतानुसार सामन्त व्यवस्था का उद्भव मौर्योत्तर काल एवं विकास गुप्त काल में हुआ था।<sup>९</sup> छठीं शती

में विजित जागीरदारों को सामन्त के रूप में मान्यता प्रदान की गयी थी।<sup>१०</sup> कौटिल्य ने पड़ोसी जागीरदारों की स्वतन्त्र सत्ता का भी उल्लेख किया है।<sup>११</sup> पाँचवीं शती में सामन्त शब्द दक्षिण भारत में भूस्वामी का बोधक बन गया था।<sup>१२</sup> पाँचवीं शती के अन्तिम भाग में दक्षिण तथा पश्चिमी भारत के दानपत्रों में सामन्त शब्द का प्रयोग जागीरदार (भूस्वामी) के अर्थ में हुआ है।<sup>१३</sup> सामन्त, महासामन्त, अनुरक्तसामन्त, आप्तसामन्त, प्रधानसामन्त, प्रतिसामन्त तथा करदीकृतमहासामन्त आदि शब्दों का प्रयोग कर बाण ने हर्षचरित में सामन्तों का वर्गीकरण किया है। ये सभी सामन्त अपने-अपने स्वामी के सम्बन्धों के कारण पृथक्-पृथक् थे।<sup>१४</sup>

सामन्त वर्ग के व्यक्तियों का उद्देश्य आमोद-प्रमोद पूर्वक जीवन यापन करना था। शासन के साथ वे आराम और विलासिता सम्बन्धी सामग्रियों का पूर्ण उपभोग करते थे। सामन्त, श्रेष्ठि और सम्राट ये तीनों वर्ग नागरिक सभ्यता के प्रतिनिधि थे। नागरिक जीवन आर्थिक समृद्धि का जीवन है। विलास और आराम दोनों को ही इस जीवन में स्थान प्राप्त है। कृषक एवं सामान्य वर्ग के व्यक्ति, ग्राम्य सभ्यता के प्रतीक हैं। यद्यपि ग्रामों का आर्थिक स्तर आज से कहीं उन्नत था, तो भी नागरिक जीवन की अपेक्षा ग्रामीण जीवन वैभवहीन और असमृद्ध था। नागरिक सभ्यता की दृष्टि से जीवन के दस<sup>१५</sup> प्रधान भोग माने गये हैं- (१) रत्न (२) देवियाँ (३) नगर (४) शय्या (५) आसन (६) सेना (७) नाट्यशाला (८) वर्तन (९) भोजन और (१०) वाहन।

वैभव और ऐश्वर्य के प्राप्त होने पर ही स्वर्ण, रजत के पात्रों में सुस्वादु और पुष्टिकर भोजन ग्रहण करने की कामना जागृत होती है। उत्तमशय्या, आसन और वाहन भी वैभव सम्पन्न व्यक्ति प्राप्त करता है। नगर में निवास करने वाले व्यक्ति प्रबुद्ध और सुरुचि सम्पन्न होते हैं। आर्थिक समृद्धि के साथ उक्त दस प्रकार के भोगों का सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र में तीन प्रकार के उपभोगों का वर्णन आता है- तात्कालिक उपभोग, उत्पादक उपभोग और स्थगित उपभोग। तात्कालिक उपभोग वह है जिससे वस्तु की उपयोगिता तत्काल समाप्त होकर आवश्यकता की पूर्ति उसी क्षण हो जाये। उक्त दस उपभोग के साधनों में भोजन, वाहन एवं रमणियाँ तात्कालिक उपभोग के साधन हैं। उत्पादक उपभोग का तात्पर्य किसी वस्तु के उत्पादन कार्य में प्रयोग से है। यथा, बीज, उद्योगशाला के यन्त्र आदि। स्थगित उपभोग का अर्थ है बचाकर भविष्य में उपभोग के लिए रखना, यथा-रत्न, अन्नसञ्चय एवं विभूति आदि।

जिनसेन ने<sup>१६</sup> आदि पुराण में भरत चक्रवर्ती राजा की समृद्धि का चित्रण स्वयं करते हुए लिखा है-

नानारत्ननिधानदेशविलसत्संपत्तिगुर्वीमिमां  
साम्राज्यश्रियमेकभोगनियतां कृत्वाऽखिलां पालयन् ।  
योऽभून्नैव किलाकुलः कुलवधूमेकामिवाङ्गस्थितां  
सोऽयं चक्रधरोऽभुनक् भुवममूमेकातपत्रां चिरम् ॥

इससे स्पष्ट है कि आदि पुराण का भारत रत्नों, निधियों और सभी प्रकार की सम्पत्तियों से युक्त एक सम्पन्न देश था।

कुछ विचारकों के अनुसार राजनीतिक एवं प्रशासनिक प्रवृत्तियों के कारण राज्य व्यवस्था का सामन्तवादी ढाँचा मौर्योत्तरकाल और विशेषकर गुप्त काल में प्रारम्भ हुआ।<sup>१७</sup> छठीं शताब्दी में विजित जागीरदारों को सामन्त के रूप में व्यवहृत किया जाने लगा।<sup>१८</sup> कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी इन पड़ोसी जागीरदारों की स्वतंत्र सत्ता का प्रमाण मिलता है।<sup>१९</sup> मौर्यकाल के पश्चात् इसका प्रयोग पड़ोसी भूमि के औचित्य के लिए किया जाने लगा<sup>२०</sup> न कि जागीरदार के रूप में।<sup>२१</sup>

पाँचवीं शताब्दी में, सामन्त, शब्द का प्रयोग दक्षिण भारत में भूस्वामी के अर्थ में किया जाने लगा। शान्तिवर्मन (ई. सन् ४२५-४७५) के पल्लव अभिलेख में सामन्त कुदामानयाः का उल्लेख प्राप्त होता है।<sup>२२</sup> उसी शताब्दी के अन्तिम काल में दक्षिणी और पश्चिमी भारत के दानपत्रों में सामन्त का उल्लेख जागीरदार (भूस्वामी) के अर्थ में प्राप्त होता है।<sup>२३</sup> उत्तर भारत में सर्वप्रथम इसका प्रयोग उसी अर्थ में बंगाल अभिलेख और मौखरी शासक अनन्तवर्मन के बराबर पहाड़ी गुफा अभिलेख में उल्लिखित है, जिसमें उसके पिता को सामन्त कुदामनीः (भूस्वामियों में सर्वश्रेष्ठ) कहा गया है।<sup>२४</sup> दूसरे यशोधरवर्मन (ई. सन् ५२५-५३५) के मंदसौर स्तम्भ लेख में भी सामन्त का उल्लेख पाया जाता है, जिसमें वह समस्त उत्तर भारत के सामन्तों को अपने आधीन करने का दावा करता है।<sup>२५</sup>

सम्राट्चक्रवर्ती में सामन्तवादी प्रथा का भी उल्लेख प्राप्त होता है। सामन्त<sup>२६</sup> लोग राजा-महाराजाओं के आधीन होकर शासन करते थे। वे करदाता नृपति के रूप में जाने जाते थे तथा राजा महाराजाओं का सम्मान करते थे।<sup>२७</sup> सामन्तों के पास अपनी निजी सेना एवं दुर्ग रहते थे।<sup>२८</sup> फिर भी वे स्वतंत्र शासक की आज्ञा के विरुद्ध कार्य नहीं करते थे। ककाटकों के सामन्त नारायण महाराज और शत्रुघ्न महाराज, वैन्ध्य

गुप्त के सामन्त रुद्रट, और कदम्बों के सामन्त भानुशक्ति को अपने ही राज्य के कुछ ग्रामों की मालगुजारी दान करते समय अपने सम्राटों की अनुमति लेनी पड़ती थी।<sup>३९</sup> राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय का सामन्त बुधवर्ष ने भी एक ग्राम दान करने के लिए अपने सम्राट से आज्ञा माँगी थी।<sup>३०</sup> राष्ट्रकूट नृपति ध्रुव के सामन्त शंकरगण ने भी ग्राम दान की आज्ञा माँगी थी।<sup>३१</sup> इसी प्रकार परमार नरेश जयवर्मा के आदेश से उसके सामन्त गंगदेव ने भूमि दान की थी।<sup>३२</sup>

सामन्त नृपति युद्ध-काल में शत्रु पर विजय पाने की लालसा से अपने सम्राटों को सैन्यबल की सहायता भी करते थे।<sup>३३</sup> अन्य साक्ष्यों से भी पता चलता है कि सामन्त लोग अपने सम्राटों को सैनिक मदद करते थे।<sup>३४</sup> दक्षिण कर्नाटक का नरसिंह चालुक्य (९१५ ई.) अपने सम्राट की ओर से प्रतिहार सम्राट महीपाल के विरुद्ध युक्तप्रांत में जाकर लड़ा था।<sup>३५</sup>

कभी-कभी सामन्त-नृपति स्वतंत्र शासक बनने के लिए अपने स्वामी सम्राट के विरुद्ध विद्रोह भी कर देते थे जिसका दमन करने के लिए स्वामी-नृपति सैन्य शक्ति का सहारा लेते थे।<sup>३६</sup> कभी-कभी उनसे विजेता की अश्वशाला, हस्तिशाला आदि में दंड स्वरूप झाड़ू लगवाई जाती थी।<sup>३७</sup> केन्द्रीय सत्ता कमजोर पड़ने पर सामन्त-नृपति स्वतंत्र भी हो जाते थे। यथा गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य की अवनति पर उसके अनेक सामन्तों ने 'महाराजाधिराज परमेश्वर' आदि उपाधियाँ धारण कर ली थीं।<sup>३८</sup>

समराइच्चकहा में महासामन्तों का भी उल्लेख है जो स्वतंत्र सम्राटों के समान ही वैभव वाले अनेक सामन्तों के अधिपति तथा सम्राट के अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्ति होते थे।<sup>३९</sup> महासामन्तों के स्वतंत्र राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध भी होते थे।<sup>४०</sup> उनके अधिकार में उनकी निजी सेना, दुर्ग तथा कोष आदि होते थे।<sup>४१</sup> अतः वह स्वतंत्र सम्राट का निकटस्थ, विश्वसनीय और लगभग उन्हीं की तरह सम्पन्न समझा जाता था। हर्ष के दरबार में अनेक महासामन्त और राजा उपस्थित थे, इनकी तीन श्रेणियाँ थीं-प्रथम श्रेणी में वे शत्रु महासामन्त आते थे जो जीत लिए गये थे। दूसरी श्रेणी में वे राजा आते थे जो सम्राट के प्रताप से अनुगत होकर वहाँ आये थे। तीसरी श्रेणी के वे नृपति थे जो सम्राट के अनुरागवश आकृष्ट हुए थे।<sup>४२</sup> अपराजितपृच्छा ग्रंथ के अनुसार लघु सामन्त की आय ५ सहस्र, सामन्त की आय १० सहस्र, महासामन्त अथवा सामन्त मुख्य की आय २० सहस्र कार्षापण होनी चाहिए।<sup>४३</sup> अपराजितपृच्छा में यह भी उल्लिखित है कि महाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि धारण करने वाले सम्राट के दरबार में चार मण्डलेश, बारह माण्डलिक, सोलह

महासामंत, बत्तीस सामंत, एक सौ साठ लघु सामंत तथा चार सौ चतुराशिक (चौरासी) उपाधिधारी होने चाहिए।<sup>४४</sup> इन सभी उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि समराइच्चकहा में उल्लिखित सामन्त, महासामन्त सम्राटों के अधीन कर दाता के रूप में शासन करते थे, जिनमें महासामन्त का पद सामन्तों से ऊँचा होता था।

### सन्दर्भ

१. पद्म पु. ३७१/१०।
२. वही ६६/१२।
३. महा पु. २७/१५२; हरिवंश पु. ११/११३-२०।
४. महा पु. २८/४२; हरिवंश पु. ११/१९।
५. पद्म पु. १०२/१२६।
६. वही २/८२।
७. अल्लेकर - राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देयर टाइम्स, पूना, १९६७, पृ. २६५; कुमारपालप्रबन्ध पृ. ४२; इण्डियन ऐण्टीक्विट ६, ९, १२।
८. इलाहाबाद स्तम्भ लेख २३; उदयनारायण राय- वही पृ. ६८
९. आर. एस. शर्मा- भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, १९७३, पृ. १०२/१२६।
१०. आर. एस. शर्मा- वही, पृ. २४-२५।
११. अर्थशास्त्र १/६।
१२. राजबली पाण्डेय- हिस्टारिकल ऐण्ड लिटरेरी इन्सक्रिप्सन्स, नं. १९, १-३।
१३. लल्लनजी गोपाल - सामन्त: इट्स वैरिंग सिगनीफिकेन्स इन ऐंसियण्ट इण्डिया, जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी, अप्रैल १९६३।
१४. वासुदेव शरण अग्रवाल - हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन, परिशष्टि १।
१५. आदि. पु. २/३७/१४२-१४३।
१६. वही २/७/२०२।
१७. आर. एस. शर्मा- भारतीय सामन्तवाद, पृ. २।
१८. वही पृ. २४-२५।
१९. अर्थशास्त्र १, ६।
२०. मनुस्मृति ८, २६८-९; याज्ञवल्क्य २, १५२-३।
२१. वी. एन. दत्ता-हिन्दू ला आफ इनहेरिटेन्स, पृ. २७।
२२. राजबली पाण्डेय-पूर्वोक्त, नं. २९, १-३।
२३. लल्लन जी गोपाल- पूर्वोक्त, अप्रैल १९६३।
२४. कार्पस इन्सक्रिप्सन्स् इंडिकैरम, ३, नं. ४९, १-४।

32 : श्रमण, वर्ष 54, अंक 1 / जनवरी-मार्च 2013

२५. सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ. ३९४, पंक्ति ५।  
२६. सम. क. २, पृ. १४७;५, पृ. ३६५, ३८३, ४८१, ८२, ४८५,  
४८७; ७ पृ. ६३३, ६३५;८, ८४१;९, ९३६, ९६१-६२, ९६४,  
९७३, ९७६, ९७८।  
२७. वही ७, पृ. ७२६।  
२८. वही २, पृ. १४७-४८।  
२९. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली ६, पृ. ५३, इंडियन ऐंटीक्विट ६,  
पृ. ३१-३२।  
३०. इंडियन ऐंटीक्विट १२, पृ. १५।  
३१. इपि. इंडि. ९, पृ. १९५।  
३२. वही ९, पृ. १२०-१२३।  
३३. वही १२, पृ. १०१।  
३४. अल्लेकर - राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ. २६५।  
३५. सम. क. १, पृ. २७, २१४७, १५३-५४, ८ पृ. ७७१-७२।  
३६. कुमारपाल प्रबन्ध, पृ. ४२।  
३७. इपि. इंडि. १८, पृ. २४८।  
३८. वही १, पृ. १९३, ३, पृ. २६१-७।  
३९. सम. क. २, पृ. ७९ से ८३;५, ४७२।  
४०. वही २, पृ. ७९-८३।  
४१. वही २, पृ. ७९-८३।  
४२. वासुदेव शरण अग्रवाल- पूर्वोक्त, पृ. ४३।  
४३. अपराजितपृच्छा ८२, ५-१०, पृ. २०३।  
४४. वही ७८, ३२-३४।

\*\*\*\*

## १२वीं से १५वीं सदी के मध्य जैन समुदाय की स्थिति

डॉ० शिवशंकर श्रीवास्तव

विद्वान् लेखक का यह आलेख १२वीं से १५वीं सदी के मध्य जैन समुदाय की स्थिति का समीचीन एवं प्रमाणिक चित्रण प्रस्तुत करता है। लेखक ने आचार्य हेमचंद्र के त्रिषष्टिशालाका-पुरुषचरित, प्रभाचंद्रसूरी का प्रभावक चरित्र, जिनप्रभसूरी का विविध तीर्थकल्प इत्यादि जैन ग्रन्थों तथा विविध पंथों की पट्टावलियों के आधार पर उस समय में जैन समुदाय की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस अवधि में जैन समुदाय संपूर्ण भारत में कहीं उन्नत दशा में था तो कहीं अवनत दशा में। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश इसकी उन्नत दशा के साक्षी रहें हैं। जैन धर्म के विकास में तुगलक वंश, खिलजी वंश तथा सुल्तानों के योगदान को भी चित्रित किया गया है। लेखक का यह कार्य अत्यन्त ही श्रम साध्य रहा है तथा हम आशा करते हैं कि लेखक की लेखनी ऐसे विषयों पर निरन्तर चलती रहे। -सम्पादक

जैन समुदाय एक समर्पित, त्यागी, भिक्षु मनोवृत्ति प्रधान और धनी उपासक वर्ग के रूप में हमारे समक्ष अतीत काल से विख्यात रहा है। जैनियों के लिए ऐतिहासिक वृत्तान्तों में भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्राचीन यूनानी वृत्तान्तों और अशोक के शिलालेखों में जैनियों के लिए श्रवण शब्द का प्रयोग किया गया है।<sup>१</sup> चीनी यात्री युवान-च्वांग (ह्वेनत्सांग) अपनी यात्रा वृत्तान्त “शी-यू-ची” में विवरण देता है कि जैनियों में प्रमुख शिष्य भिक्षु और गौण शिष्य श्रमणेर कहलाते थे।<sup>२</sup> जैन स्त्रियों में कहा गया है कि मध्यकाल के प्रारम्भ में उनका समुदाय खासतौर पर वाणिज्य वर्ग, अर्थात् महाजनों, सूदखोरों या सौदागरों पर आधारित था।<sup>३</sup> सौदागरों और सूदखोरों के लिए बरनी ने मुल्तानी<sup>४</sup> शब्द का प्रयोग किया है।

दिल्ली सल्तनत के फारसी वृत्तान्तों में जैन समुदाय के बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती है। अतः १२वीं से १५वीं सदी के मध्य जैन समुदाय की स्थिति के बारे में जानकारी का मुख्यस्रोत जैन स्रोत ही हैं। जैनियों के प्रारम्भिक इतिहास को जानने का मुख्य स्रोत आचार्य हेमचंद्र (१२वीं सदी) कृत “त्रिषष्टिशालाका-पुरुषचरित” (The Lives of Sixty- Three Illustrious Persons) है, जिसे आचार्य ने स्वयं महाकाव्य कहा है। इस कृति को जैन रामायण के नाम से भी जाना जाता है। इस ग्रंथ के परिशिष्ट पर्व में इसकी टीका भी उपलब्ध है।<sup>५</sup> जैन ग्रंथ “लेख



पद्धति” से राज्य के दस्तावेजों तथा प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन गुजरात (९वीं से १५वीं शताब्दी) के दैनिक जीवन विषयक जानकारी प्राप्त होती है।<sup>६</sup> जैन स्रोतों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान अंग-प्रबन्ध का है, जिनमें ऐतिहासिक परम्पराओं और कथाओं का समावेश है। इन स्रोतों में प्रभाचंद्रसूरी का ‘प्रभावक चरित’ (१२७७), मेरुतुंग का ‘प्रबन्ध चिंतामणि’ (१३०६), राजशेखर का ‘प्रबन्धकोष’ (१३०८), जिनप्रभसूरी का ‘विविध तीर्थकल्प’ (१३२६-३१) तथा सर्वानन्द का ‘जगदुचरित’ (१४वीं सदी) आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जिनविजय मुनि ने पुरातन प्रबन्ध संग्रह में १३वीं और १४वीं सदी के बहुत से दूसरे प्रबन्धों को संकलित और संपादित किया है।<sup>७</sup> इसके अलावा जैन समुदाय के बारे में जानकारी जैन काव्यसंग्रहों से भी मिलती है, जो अपभ्रंश, राजस्थानी और हिन्दी में उपलब्ध हैं।<sup>८</sup> जैन आचार्यों ने नाटक भी लिखे हैं। यशचन्द्र का ‘कुमुदचन्द्र’ (१२२४ई.), जयसिंह का ‘हम्मिर-मद-मर्दन’ यशपाल का ‘मोहराज-पराजय’ (१२०३ई०), मेघप्रभाचार्य का ‘धर्माभ्युदय’ महत्वपूर्ण हैं। ‘गाथासहस्री’ (१३६०ई०) भी उल्लेखनीय है। इन नीतिग्रन्थों में जैनों के प्रिय विषय वैराग्य, स्त्री-निन्दा, ब्राह्मण-निन्दा, त्याग इत्यादि पर प्रकाश डाला गया है।<sup>९</sup>

इसके अलावा विभिन्न जैन पंथों की पट्टावलियाँ (जैन मुनियों की सूचियाँ) जैसे- खरतरगच्छ और तपागच्छ आदि से भी जैन समुदाय की स्थिति के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इन पट्टावलियों द्वारा सल्तनतकालीन सुल्तानों से जैन मुनियों के सम्बन्धों तथा सुल्तानों द्वारा दी गयी सुविधाओं की जानकारी के साथ-साथ जैन आचार्यों के यात्रा-वृत्तान्त का भी विवरण प्राप्त होता है। खरतरगच्छ पट्टावली (रचना १३३६-३७ई०) स्रोत से हमें विदित होता है कि जैनी सुल्तानों के इलाके में, उनकी आज्ञा लेकर तीर्थ यात्राएं करते थे, मूर्तियाँ लगाते थे, मंदिरों का निर्माण और मरम्मत करते थे।<sup>१०</sup>

खरतरगच्छ पट्टावली में विवरण मिलता है कि राजनीतिक अस्थिरता से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण ११९१ई० में जिनपतिसूरी अजमेर को छोड़कर लवणखेत में रणक केलहन के पास जाकर रहने लगे।<sup>११</sup> आगे यह भी विवरण मिलता है कि ११९३ई० में, अणहिल्ल पट्टन में उथल-पुथल के बावजूद जैन गृहस्थ और आचार्य स्वतंत्रतापूर्वक धार्मिक कार्य सम्पन्न करते रहे, जैसे- जैन मूर्तियों को प्रतिष्ठित करना, भिन्न-भिन्न स्थानों पर धार्मिक समारोह आयोजित करना। अणहिलवाड़ा पट्टन का राजकुमार पाल जैन धर्म का अनुयायी और संरक्षण प्रदान करने वाला था।<sup>१२</sup>

राजस्थान में जैन धर्मावलम्बियों की संख्या अधिक थी। धनिक वर्ग द्वारा इस सम्प्रदाय के लोगों को पर्याप्त आर्थिक सहायता मिलती थी। जैन सम्प्रदाय के लोग जिन पर्वतों को पवित्र मानते हैं, उनमें आबू, पालिताणा और गिरनार उल्लेखनीय हैं।<sup>१३</sup> पंजाब से लेकर समुद्र के किनारे के सभी प्रसिद्ध नगरों में जैन धर्म को मानने वाले व्यवसायी रहते थे। उदयपुर और उसके दूसरे नगरों में प्रसिद्ध कर्मचारी जैन समुदाय के लोग थे।<sup>१४</sup> राजस्थान में मेवाड़ के गुहिलोत वंश द्वारा भी जैन धर्म को संरक्षण मिला हुआ था। चित्तौड़ में निर्मित पार्श्वनाथ का स्तम्भ इसकी पुष्टि करता है। मेवाड़ के अनेक मंत्री और राज्य के अधिकांश कर्मचारी जैनी थे।<sup>१५</sup> राजपुताना के अन्य राज्यों के शासक भी जैन सम्प्रदाय के पोषक थे। आचार्य जिनचंद्र सूरी ने ही मारवाड़ राजा सूर्यदेव खीच (Suryadeo Khich) के पुत्रों डुगड़ (Dugar) और सुगड़ (Sugar) दोनों भाइयों के नाम पर ही उनके गोत्रों का नाम दिया और कहा कि उनके कुल देवता सर्प हैं, इसलिए नागदेवता की पूजा करें। १२१७ ई० में इन्होंने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। ये मूलतः राजपूत थे।<sup>१६</sup> चित्तौड़ के महाराजा बेरिसाल सिंह सिसौदिया ने भी जिनचंद्र सूरी से प्रभावित होकर जैन धर्म स्वीकार कर लिया था।<sup>१७</sup>

इस अवधि में जैन समुदाय की गुजरात में भी अच्छी स्थिति थी। वस्तुपाल और तेजपाल ने अनेक धार्मिक समारोह आयोजित किए थे। इन स्थानों के श्रावक और श्राविकाओं (भिक्षुओं और भिक्षुणियों) की दशाएं सुधारी और विद्वानों को संरक्षण दिया। वल्लभी, जैन धर्म का मुख्य केन्द्र था।<sup>१८</sup> गुजरात के सोलंकी वंश के शासक जयसिंह सिद्धराज के काल में प्रसिद्ध आचार्य हेमचंद्र सूरी (१०८७-११७२) का उत्कर्ष हुआ। हेमचंद्र दार्शनिक और गणितज्ञ भी थे। उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल (११४३-११७३) के काल में सलाहकार नियुक्त हुए। हेमचंद्र के प्रयास से जैन मंदिर का निर्माण तरंगा (Taranga) में हुआ था। हेमचंद्र (जिन्हें उनकी शिष्य मंडली 'कलिकाल-सर्वज्ञ' कहा करती थी) के ही प्रयास से कुमारपाल ने गुजरात में जैन धर्म को राजकीय धर्म घोषित किया और जानवरों की हत्या पर प्रतिबन्ध लगा दिया। हेमचंद्र ने योग के बारे में भी जनता को जागरूक किया। योग पद्धति के बारे में जानकारी का अच्छा स्रोत हेमचंद्र का "योगशास्त्र" है।<sup>१९</sup> गुजरात के कच्छ (मांडवी)<sup>२०</sup> के प्रसिद्ध जैन बनिया जगडूशाह, जिन्हें 'सेठ', 'साह-सौदागर', 'दान-वीर' की उपाधि प्राप्त थी, ने अनेक धार्मिक समारोह आयोजित कराया था। १२५९ ई० में जगडूशाह ने भद्रेश्वर (Bhadreshwar) जैन मंदिर का नवनिर्माण और हरिसिद्धि के मंदिर को अनुदान दिया।<sup>२१</sup> इसके अलावा जगडूशाह को कच्छ में भद्रेश्वर के निकट वसई (Vasai) के ऐतिहासिक जैन मंदिरों के निर्माण और मरम्मत

का भी श्रेय प्राप्त है।<sup>२२</sup> १२५८-५९ई० के अकाल के दौरान, भारत के अनेक भाग प्रभावित थे, अनाज के मूल्य में वृद्धि हो गयी थी और राजकीय भंडार खाली थे। उस समय जगडूशाह ने लोगों को मुफ्त अनाज वितरित किये थे। जगडूशाह ने अणहिलवाड़ के राजा विशालदेव को ४,००,००० मन; सिंध के राजा को ६,००,००० मन; मेवाड़ के राजा को १६,००,००० मन; मालवा के राजा को ९,००,००० मन; बनारस के राजा को १६,००,००० मन; और देहली के सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद को १०,५०,००० मन अनाज का दान दिया था।<sup>२३</sup> कच्छ के जैनमुनि देवसूरि ने भविष्य में पुनः अकाल आने की भविष्यवाणी की और जगडूशाह से कहा कि इस तरह की आपदा से निटपने हेतु अनाज को संचित करें जिससे जनता की सहायता की जा सके।<sup>२४</sup> इस उदारता से उसे इतनी प्रसिद्धि मिली कि १२५८-५९ ई० का अकाल जगडूशाह अकाल कहा जाने लगा।<sup>२५</sup> कहा जाता है कि वह शत्रुञ्जय नामक जैन तीर्थ स्थल पर भी गया था। उसने अनेक जैन धर्मशालाओं का निर्माण कराया और अनेक जैन मन्दिरों के पुनर्निर्माण पर धन व्यय किया था।<sup>२६</sup> जगडूशाह की मृत्यु पोरबन्दर के निकट झुण्डाला (Jhundala) में हो गयी जहाँ उसकी स्मारकशिला बरदाई ब्राह्मिन (Bardai Brahmin) में पायी जाती है।<sup>२७</sup> जैन परम्परा के अनुसार १३२१ई० में गुजरात में एक बार फिर भीषण अकाल पड़ा। तब भीम नामक एक व्यापारी ने एक बड़ी रकम दान में दी थी। इसी व्यापारी ने भीमसिंह प्रासाद नामक जैन मंदिर का, जो अबू पर्वत पर स्थित है, संभवतः निर्माण करवाया था।<sup>२८</sup>

इस अवधि में मध्य प्रदेश में भी जैन समुदाय उन्नत दशा में था। माण्डू के शासकों के राज्यकाल में न केवल जैन श्रेष्ठी भारी मात्रा में बहुमूल्य वस्तुओं का व्यापार कर रहे थे, अपितु महाजनी (Banking) का भी व्यवसाय करते हुए वित्तीय आपदाओं से ग्रस्त राजपरिवार के सदस्यों को यथोचित आर्थिक सहायता प्रदान करने के साथ-साथ, शासन एवं प्रशासन के उच्च पदों पर आसीन भी थे। श्रेष्ठी तथा व्यापारी, संघपति बड़े पैमाने पर संघयात्राएं सम्पन्न कर रहे थे। झांझण कुमार ने १३४८ ई० में लाखों लोगों के साथ संघबद्ध होकर तीर्थयात्रा की थी।<sup>२९</sup> इस संघ के संरक्षण की व्यवस्था राजाओं द्वारा की गयी थी। संघ यात्रा में सम्मिलित होने वालों को उत्तम वस्त्र, अश्व तथा मार्ग-व्यय आदि भेंट दी गयी थी। झांझण कुमार के छः पुत्र चाहड़, देहड़, पद्मसिंह, आल्हू और पाल्हू ने भी संघ यात्राएं की थीं। पाल्हू ने जिनचंद्रसूरी की अध्यक्षता में श्री अर्बुद और जीरापल्ली तीर्थ संघ यात्रा पर प्रचुर धन व्यय किया था।<sup>३०</sup> अन्य संघपति, जयता, जावड़, सूर-सेठ, वीरा-सेठ, संग्राम सिंह सोनी आदि थे, जो माण्डू (माण्डू) के निवासी थे। इस काल में संघ यात्रा कष्ट साध्य और

विपुल धन व्यय वाला होता था। मार्ग चोर तथा शत्रु राजाओं के उत्पातों से आंतकित था।<sup>३१</sup> ऐसी स्थिति में संघ यात्राओं का आयोजन संघपति की प्रभावशालिता, उनकी धनाढ्यता और शासकों की राज्य सभाओं में प्राप्त मान प्रतिष्ठा को सहज सिद्ध करता है। जैन श्रेष्ठी उच्च राजनीतिक और प्रशासनिक पदों पर भी नियुक्त हुए थे और इस कारण उनका सभी वर्गों पर अच्छा प्रभाव था। कुछ परिवार तो अत्यधिक प्रतिष्ठित हो गये थे।<sup>३२</sup> माण्डू के सुल्तान आलम शाह (अलपरखाँ) उपनाम होशंगशाह गौरी के शासन काल १४२४ ई० में संघधिप होलिसाहू ने देवगढ़ में गरु के उपदेश से मुनि बसन्तकीर्ति तथा पद्मनन्दि और कई तीर्थङ्करों की प्रतिमाएं स्थापित करायी थी।<sup>३३</sup> जिन महत्त्वपूर्ण शासकों से खरतर आचार्यों की भेंट हुई बतायी जाती है, उनमें गुजरात के दुर्लभराज चालुक्य, मालवा के नरवर्मन, त्रिवनिगिरि के कुमारपाल, देहली के मदनपाल, अजमेर के अर्णवराज और पृथ्वीराज, जालौर के उदय सिंह और चचिगदेव, देहली के सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी और गयासुद्दीन तुगलक का नाम प्रमुख है।<sup>३४</sup>

खिलजी वंश के संस्थापक जलालुद्दीन फिरोज खिलजी (१२९०-९६ई०) के शासनकाल में नयन नामक जैनी अफसर था, जबकि उसका बेटा तुगलक काल में मेरू तमाम में नियुक्त था।<sup>३५</sup> जबकि अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६ई०) के काल में टकसाल का अधिकारी ठाकुर फेरू नामक श्रीमाल जैनी था, जो शहाबुद्दीन उमर, कुतुबुद्दीन मुबारकशाह खिलजी और गयासुद्दीन तुगलक के काल में भी इसी पद पर नियुक्त था।<sup>३६</sup> ठाकुर फेरू के पुत्र हेमपाल को अपने पिता के अनुभव से लाभ मिला। उसने रत्न, द्रव्य आदि विषयों पर आधारित ग्रंथों की रचना की, जिसमें प्रमुख हैं- रत्न-परीक्षा, द्रव्य-परीक्षा<sup>३७</sup> आदि। ऐसा प्रमाण मिलता है कि दिगम्बर जैन आचार्य महासेन ने अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में अपने विरोधियों के साथ शास्त्रार्थ किया था, जिससे सुल्तान काफी प्रभावित हुआ था। दिल्ली का एक और दिगम्बर जैन आचार्य पूर्णचन्द्र भी सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के काफी नजदीक था।<sup>३८</sup> सुल्तान ने श्वेताम्बर पंथ के जैन आचार्य रामचन्द्र सूरी को सम्मानित किया था।<sup>३९</sup>

दूसरी ओर खरतरगच्छ पट्टावली में अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में जैन सम्प्रदाय के खिलाफ हुए अत्याचारों का भी विवरण मिलता है। १३१३ई० में जिनचन्द्र सूरी ने जब जाबालिपुर (जालौर) में एक धार्मिक समारोह किया तो मलेच्छों ने उनके समारोह को भंग कर दिया और पूरे नगर पर कब्जा कर लिया।<sup>४०</sup> लेकिन ऐसा लगता है कि स्थिति एक-दो वर्षों में सामान्य हो गयी। १३१४ई० में मनाल नामक एक श्रीमाल के बेटों और उनके चचेरे भाइयों मल्ह और धंधू ने दूर-दराज स्थित फलूदी के पवित्र मंदिर तक, कम से कम तीन सौ गाड़ियों में भरी तीर्थयात्रियों

की भीड़ का नेतृत्व किया, बावजूद इसके कि अजमेर और उसके आस-पास के क्षेत्र विरोधी मुस्लिम फौजों के कारण आंतकित थे।<sup>41</sup> अनेक जैनी, जिन्होंने अलाउद्दीन खिलजी के समय में इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था, मियाना राजपूत कहलाये (जैसा कि उनके नाम के अन्तिम शब्द से स्पष्ट है) (The Miyana Rajputs, many of whom were Jains (as per their last name) adopted Islam at the time of Alauddine Khilji)<sup>42</sup>

गुजरात पर अलाउद्दीन खिलजी की विजय के बाद समरशाह (समरसिंह)<sup>43</sup>, ने १३१५ई० में सुल्तान से गुजरात में पालिताना के प्रसिद्ध शत्रुंजय मंदिर का जीर्णोद्धार करने की इजाजत प्राप्त कर ली थी।<sup>44</sup> बाद में कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी ने उन्हें अपना व्यवहारक बना लिया था।<sup>45</sup>

खरतरगच्छ पट्टावली से ही जानकारी मिलती है कि कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी से १३१८ई० में ठाकुर अचलसिंह ने एक फरमान प्राप्त किया और जैनियों के लिए खरतरगच्छ के प्रमुख जिनचंद्र सूरी (१२४८-१३१९ई०) के नेतृत्व में हस्तिनापुर, मथुरा, कन्यानयन आदि तीर्थों की यात्रा का नेतृत्व किया। (इसे संघ-यात्रा कहा गया) इस यात्रा में टकसाल का अधिकारी ठाकुर फेरू भी शामिल हुआ था।<sup>46</sup> आचार्य जिनप्रभसूरी की प्रशंसा असपति (खिलजी शासक) ने भी की थी, जिसका उल्लेख जैन काव्य संग्रहों में मिलता है। जिसमें कहा गया है कि शुक्ल पंचमी और शुक्ल एकादशी के दिन संत जिनप्रभसूरी को देहली में अपने दरबार में आमंत्रित किया था।<sup>47</sup>

तुगलक काल में दिल्ली, मालवा तथा गुजरात के जैन व्यापारियों का राजकीय संरक्षण में महत्व बढ़ा। तुगलक शासन काल में जैनियों को अत्यधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। इस वंश के सुल्तानों ने जैन गुरुओं का सम्मान किया था। तुगलक वंश के संस्थापक गयासुद्दीन तुगलक ने खरतरगच्छ के आचार्य जिनकुशल सूरी (१३२०-८२ई०) के शिष्य धनी सौदागर धर्म सिंह के पिता रायपति के हक में १३२३ई० में एक फरमान जारी किया था।<sup>48</sup> फरमान के अनुसार सैनिकों के संरक्षण में धनी सौदागर धर्मसिंह के पिता रायपति तीर्थयात्रा पर निकले और जब तीर्थयात्रा से वापस लौटे तो देहली में उनका धूम-धाम से स्वागत किया गया।<sup>49</sup> १३२३ई० में ही गयासुद्दीन तुगलक ने एक और फरमान जारी करके संघ को भीमपल्ली से तीर्थयात्रा शुरू करने की इजाजत दी थी।<sup>50</sup> सिद्धसूरी के शिष्य और कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी के व्यवहारक समरशाह (समरसिंह) को गयासुद्दीन तुगलक अपने पुत्र के समान मानता था। समरशाह को सुल्तान ने तेलंगाना भेजा, जहाँ उन्होंने अनेक जैन मंदिर बनवाये। आगे मुहम्मद बिन तुगलक के काल में वे (समरशाह) तेलंगाना के हाकिम बने।<sup>51</sup>

मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५-५१ई०) के काल में जैन गृहस्थों, व्यापारियों और आचार्यों को काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी और अनेक की तो सीधे सुल्तान तक पहुँच थी। अपनी विद्वतापूर्ण रचनाओं के सहारे राजशेखर भीम, महेन्द्रसूरी, भट्टारक सिंहकीर्ति, सोमप्रभसूरी, सोमतिलक और जिनप्रभसूरी को सुल्तान की कृपा दृष्टि प्राप्त थी।<sup>५२</sup> जिन प्रभसूरी खरतरगच्छ के आचार्य जिनकुशलसूरी के पट्टधर थे जिनका मुहम्मद बिन तुगलक के दरबार में अत्यधिक प्रभाव था। इसका विस्तृत विवरण 'विविध तीर्थकल्प' तथा दूसरे अन्य ग्रंथों में मिलता है।

'विविध तीर्थकल्प' में १३२८-२९ई० की एक घटना का वर्णन है। जब एक शिकदार ने आसीनगर पर हमला करके अनेक जैन गृहस्थों और श्रावकों को गिरफ्तार कर लिया और पार्श्वनाथ की मूर्ति तोड़ दी। लेकिन महावीर की मूर्ति को, जो सुरक्षित बच गयी थी, देहली ले जाकर तुगलकाबाद में रख दिया गया जहाँ वह १५ माह तक तुर्कों के संरक्षण में थी। कालान्तर में मुहम्मद बिन तुगलक और जिनप्रभसूरी दोनों देवगिरि से दिल्ली पहुँचे। इससे प्रभावित होकर सुल्तान ने सूरी को अपने दरबार में बुलाकर हाल-चाल पूछा और अपनी बगल में आसन दिया। रात-भर उनसे बात-चीत की। सुल्तान उनके काव्य कौशल और ज्ञान से प्रसन्न हुआ, उन्हें कुछ कम्बल और मूल्यवान उपहार तथा एक हजार गाये भेंट की, जिनमें से सूरी ने थोड़ा सा ही स्वीकार किया। तब सूरी ने उससे शत्रुंजय, गिरिनार और फ़लबद्धी के जैन तीर्थों की सुरक्षा के बारे में एक फरमान जारी करने की प्रार्थना की।<sup>५३</sup>

जिनप्रभसूरी के मार्गदर्शन में मुहम्मद बिन तुगलक पालिताना के शत्रुंजय तथा गिरिनार के जैन मंदिरों में भी गया। शत्रुंजय मंदिर में उसने जैन भक्तों के साथ भक्ति के कुछ कर्म संपन्न किये। उसने एक नवीन 'बस्ती उपाश्रय' (साधुओं के ठहरने के लिए धर्मशाला) का निर्माण कराने के लिए शाही मुहर लगा हुआ एक 'फरमान' भी जारी किया।<sup>५४</sup> बरिहागढ़ शिलालेख में सुल्तान द्वारा एक गोमठ (गायों के रहने का स्थान) के निर्माण की घोषणा का भी उल्लेख मिलता है।<sup>५५</sup>

विविध तीर्थकल्प में ही यह विवरण प्राप्त होता है कि बरसात में एक दिन जिनप्रभसूरी जब सुल्तान के शाही महल में पहुँचे तो सुल्तान ने कपड़े से उनके गंदे पैर साफ किया।<sup>५६</sup> सूरी ने आशीर्वाद दिया और उसकी प्रशंसा में कुछ पद कहे। सुल्तान प्रसन्न हुआ। तब सूरी ने सुल्तान से प्रार्थना किया कि तुगलकाबाद में रखी हुई महावीर की मूर्ति उन्हें प्रदान कर दी जाय। मूर्ति तुरन्त मंगवाकर सूरी को भेंट की गयी। बाद में यह मूर्ति भारी समारोह के साथ मलिक ताजुद्दीन सराय में प्रतिष्ठित की गयी। आगे चलकर (सुल्तान के नाम पर) सुल्तान सराय नामक एक जैन मठ

और एक जैन मंदिर का निर्माण हुआ।<sup>५७</sup> कन्यानय महावीर कल्प परिशेष में कहा गया है कि जिनप्रभसूरी ने मुहम्मद बिन तुगलक से एक फरमान प्राप्त किया था, जिसके कारण दौलताबाद में साहू पेठढ़, साहू सहज और ठाकुर अचल के बनवाए हुए चैत्य तुर्कों की गारतगरी से सुरक्षित रहे।<sup>५८</sup>

ऐसा विवरण भी मिलता है कि मुहम्मद बिन तुगलक ने एक बार पंडितों की एक सभा में कहा था- 'जिनप्रभसूरी यदि इस समय यहाँ उपस्थित होते तो वे मेरी सारी शंकाओं का समाधान कर चुके होते। इस पर दौलताबाद से आये हुए ताजुलमलिक ने सज्दे में सर को झुकाकर कहा कि आचार्य तो दौलताबाद में हैं। यह सुनकर सुल्तान ने आदेश दिया- 'ऐ मलिक! तत्काल दबी ए खाना जा, एक फरमान तैयार करा और उसे बाकायदा दौलताबाद के दीवान के पास भेजो' दौलताबाद के नायक श्री कुतुलखान<sup>५९</sup> ने आदरपूर्वक फरमान में मौजूद संदेश को जिनप्रभसूरी तक पहुँचाया कि सुल्तान उन्हें दिल्ली में मौजूद देखना चाहता है। सूरी दिल्ली जाकर सुल्तान से मिले। सुल्तान ने उन्हें सीने से लगाया। सूरी ने उसे आशीर्वाद दिया और फिर सुरूरतान सराय के लिए चल पड़े।<sup>६०</sup>

एक और अवसर की बात है। सुल्तान की माँ मख्दूम-ए-जहाँ, जिनप्रभसूरी के साथ दौलताबाद से आ रही थी, तब सुल्तान अपनी फौज के साथ उनका स्वागत करने के लिए निकला। वह अपनी माँ से वडथूना में मिला।<sup>६१</sup> सुल्तान ने सूरी को रहने के लिए अपने महल के पास अभिनव सराय नाम का एक शानदार मकान दिया।<sup>६२</sup> बाद में सुल्तान से हस्तिनापुर जाने का फरमान पाकर सूरी अपने धाम लौट आए। इसी फरमान में यह भी कहा गया था कि दिगम्बर और श्वेताम्बर बिना किसी रोकटोक के कहीं भी आ-जा सकते थे।<sup>६३</sup>

मुहम्मद बिन तुगलक के उत्तराधिकारी फीरोजशाह तुगलक ने भी जैन आचार्यों के प्रति आदर भाव प्रकट किया और जैन विद्वानों को सम्मानित भी किया। जैन ग्रंथों के अनुसार फीरोजशाह तुगलक ने "श्रीपाल चरित" के रचयिता जैन कवि राजशेखर को सम्मानित किया था। एक और अवसर पर सुल्तान ने गुणभद्रसूरी, मुनिभद्रसूरी के शिष्य महेन्द्रप्रभसूरी को सम्मानित किया था।<sup>६४</sup> १३५६ई० में राजगीर के एक शिलालेख में कहा गया है कि पार्श्वनाथ के मंदिर की मरम्मत सुल्तान फिरोजशाह तुगलक के आदेश से करायी गयी थी।<sup>६५</sup> जैन ग्रंथों में लोदी काल के बारे में बहुत

कम जानकारी मिलती है। लेकिन एक प्रबंध-ग्रंथ से पता चलता है कि सुल्तान सिकन्दर लोदी ने ५०० बंदिशों के साथ जैन भिक्षु हंससूरी को उनकी प्रार्थना सुनकर, मुक्त कर दिया।<sup>६६</sup> यह भी जानकारी मिलती है कि सुल्तान ने बीकानेर क्षेत्र में मालेश्वर

के पास जैन भिक्षु जंबूजी के जीवनयापन हेतु जमीन दान में दी थी।<sup>६७</sup>

उपरोक्त विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि १२वीं से १५वीं सदी के मध्य जैन समुदाय की स्थिति सम्मानजनक थी। उनके निवास का केन्द्र बिन्दु पश्चिम भारत, उत्तरी भारत और दक्षिण भारत में मैसूर था। जैन धर्म व्यापारी वर्ग में लोकप्रिय हुआ। शासकों के साथ जैन सम्प्रदाय के लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के संबंध हुआ करते थे। खिलजी वंश और तुगलक वंश के शासकों के साथ इनके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। तुगलक काल में विशेषकर मुहम्मद बिन तुगलक के काल में जैन समुदाय को अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। सुल्तानों ने उन्हें संरक्षण प्रदान किया, संघ यात्राओं हेतु अनुदान दिया तथा उन्हें शासकीय पदों पर नियुक्ति के साथ-साथ सम्मानित भी किया। दिल्ली सल्तनत में जैन धर्म और जैन साहित्य सुरक्षित रहा और जैन सम्प्रदाय के लोग धार्मिक स्वतंत्रता के साथ जीवन व्यतीत कर रहे थे।

### सन्दर्भ एवं टिप्पणी

१. क्लासिकल एकाउंट्स ऑफ इण्डिया, सम्पा०: आर.सी. मजुमदार, कलकत्ता, १९६०, पृ० ४२५-४८; ई हुल्श, कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, एक, देहली, १९६९, पृ०-५३, ७३।
२. युवान च्वांग, शी-यू-ची, अनुवाद और टीका: टामस वैटर्स, आन युवान च्वांग्स ट्रेवेल इन इंडिया, ६२९-४५ ए.डी., देहली, १९७३, पृ०- २५७
३. पुष्पा प्रसाद का लेख, 'द जैन कम्युनिटी इन द देहली सल्तनत', प्रोसिडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, ५४वां मैसूर अधिवेशन, १९९३, सेक्शन-२ (मेडिक्ल इण्डिया) लेख क्रम सं०- २९।
४. जियाउद्दीन बरनी, तारीखे फीरोजशाही, (अनु०) सर सइद अहमद खाँ, बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता, १८६२, पृ०- ३१६-१८
५. हेमचन्द्रसूरी कृत 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित' में गुरु शिष्य परम्परा का ऐतिहासिक विवरण के साथ सन्यास धर्म, मृत्यु और पुनर्जन्म तथा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार का उल्लेख भी मिलता है। विस्तृत विवरण हेतु देखें- हेलेन एम० जॉनसन, (अनु०), द लाइव्स ऑफ द सिक्सटी श्री इलसट्रीयस पर्सस (बड़ोदा, ओरिएंटल, इन्स्टीच्यूट, १९६२); रिचार्ड फीन्स, (अनु०) द लाइव्स ऑफ द जैन एल्डर्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९९८।
६. लेखपद्धति, (अंग्रेजी अनु०), पुष्पा प्रसाद, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, २००८।
७. प्रभाचन्द्रसूरी कृत प्रभावक चरित, सम्पा०: एच०एम० शर्मा, १९०९; जिन विजयमुनि, सिधी जैन श्रृंखला, (एस०जे०एस०), १९४०; मेरुतुंग कृत प्रबंध चिन्तामणि, सं० जिन विजय मुनि, एस०जे०एस०, शान्तिनिकेतन, १९३३;



- जिनप्रभसूरी कृत विविध तीर्थकल्प, सं० जिनविजय मुनि, कलकत्ता १९३४; हिन्दी अनुवाद : ए०बी० नाहटा, मेवानगर, १९७८; राजशेखर कृत प्रबंधकोश सम्पा०: जिन विजय, एस०जे०एस० संख्या ६, शान्तिनिकेतन, १९३५; सर्वानन्द कृत जगदुचरित, सम्पा०: जी बुहलर, इंडियन स्टडीज, अंक-१; पुरातन प्रबंध संग्रह, सम्पा०: जिन विजय मुनि, एस०जे०एस० संख्या-२, अहमदाबाद, १९३६
८. अगरचंद नाहटा, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, कलकत्ता, १९९४
  ९. हजारि प्रसाद द्विवेदी: हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९९८, पृ.-१९६-९८
  १०. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, सं०- जिनविजय मुनि, एस जे०एस० संख्या ४२, बंबई, १९५६, खरतरगच्छ पट्टावलि संग्रह, सम्पा०: जिन विजय, कलकत्ता १९३२, तपागच्छ पट्टावलि, अंशों के अनुवाद : जे क्लैट, इंडियन एंटीक्विरी, ग्यारह पृ० २५१-५६
  ११. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, पृ०- ४४
  १२. वही, पृ०-४४
  १३. कर्नल टाड : राजस्थान का इतिहास, भाग-१, साहित्यागार, जयपुर, २००८, पृ०-३२५
  १४. वही, पृ० ३२५
  १५. वही, पृ० ३२६
  १६. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, पृ० ६५-६७
  १७. वही, पृ० ६६-६८
  १८. पुष्पा प्रसाद का लेख, 'द जैन कम्युनिटी इन द देहली सल्तनत', पूर्वोक्त, विस्तृत विवरण हेतु देखें-लेख पद्धति, अनुवाद-पुष्पा प्रसाद, पूर्वोक्त
  १९. ई० विंश, (अनु०), हेमचंद्राज-योगशास्त्र, जे०डे०एम० ग्रेसल शेफ्ट नं० २८, (लेपजिंग, १८७४) तथा हेलेन एम० जॉनसन, पूर्वोक्त एवं रिचार्ड फीन्स, पूर्वोक्त।
  २०. गजेटियर ऑफ द बाम्बे प्रेसिडेन्सी, काठियावाड़, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस, १८८४, पृ०-४३९
  २१. श्री जैन प्रार्थना मंदिर ट्रस्ट मद्रास, १९७२ तीर्थ दर्शन अंक, पृ० ५६८; गजेटियर ऑफ द बाम्बे प्रेसिडेन्सी, काठियावाड़, पूर्वोक्त, पृ०- ४३९-४०.
  २२. आर्कियोलॉजीकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया रिपोर्ट्स, ओल्ड सिरीज वाल्यूम १-८, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस, १८७४, पृ० १४-२०
  २३. इण्डियन कल्चर, जर्नल ऑफ इण्डियन रिसर्च इंस्टीच्यूट, अंक-३ (भाग-१) १९८४, पृ०- ८९; सर्वानन्द, जगदुचरित, खंड-३, पृ० ५३-५८, खंड-४, पृ० ६८-१६२; सी०वी० सेठ, जैनज्म इन गुजरात, बंबई, १९५३, पृ० १५१-५४
  २४. देखें जगदुचरित, खण्ड-३, खण्ड-४; आर्कियोलॉजीकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया रिपोर्ट्स, ओल्ड सिरीज वाल्यूम १-८, पूर्वोक्त, पृ०-१४; रिपोर्ट आन

- द आर्किटेक्चरल एण्ड आर्कियोलॉजीकल रीमेन्स इन द प्रोविंसेज ऑफ कच्छ,  
दलपत राम प्राणजीवन खक्कर, १९७८, पृ०-६५
२५. गजेटियर ऑफ द बाम्बे प्रेसिडेन्सी, काठियावाड़, पूर्वोक्त, पृ० १९०, १९१, ४३९
२६. वही, पृ० ४४०-४१
२७. वही, गुजरात समाचार, २९-९-२०११
२८. मोहनलाल डी देसाई, ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ लिटरेचर, भावनगर, १९३३, पृ० ४२९
२९. दौलत सिंह लोढा, मंत्रिमण्डल एवं उसका गौरवशाली वंश (सौ धर्म-वृहत्पक्षीय, श्वेताम्बर श्री संघ, पृ० १३१-३२)
३०. वही, पृ० १३१-१३१
३१. मोतीचन्द्रः सार्थवाह (प्राचीन भारत की पथ पद्धति) बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्,  
पटना, १९५३, पृ० १६४; दौलत सिंह लोढा, पूर्वोक्त, पृ०-१३२
३२. कृष्णदत्त वाजपेयी, भारतीय व्यापार का इतिहास, पृ०-९
३३. ज्योति प्रसाद जैन, प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष व महिलाएं, पृ० २४६-४७
३४. मोहन लाल दलीचन्द देसाई, पूर्वोक्त, पृ० ४७६, ४८४; आर.जी.भंडारकर,  
रिपोर्ट ऑन द सर्च ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन बाम्बे, १८८३-८४, बंबई,  
१८८७, पृ० १२६
३५. एस०आर० शर्मा, ठाकुर फेरूज रायानपारिख, अलीगढ़ जर्नल ऑफ ओरिएंटल  
स्टडीज, अलीगढ़, १९८४, पृ०-४
३६. ठाकुर फेरू श्रीमालकुल के श्रीदंध गोत्र से संबंधित थे और श्वेताम्बर जैनियों के  
खरतरगच्छ के सदस्य थे। एस०आर० शर्मा, पूर्वोक्त, पृ०-२०
३७. एस०आर० शर्मा, पूर्वोक्त, पृ०-२२
३८. जैन हितैषी, बंबई, पंद्रह, पृ०-१३२
३९. डेर जैनजमुस, पृ०-६६
४०. खरतरगच्छ पट्टावलि, पृ०-६४
४१. बनारसी दास, अर्धकथानक, अनु., मुकुन्दलाल, जयपुर, १९८१, पृ०-१०८
४२. कुमार सुरेश सिंह, राजेन्द्र बिहारी लाल, एन्थ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया,  
पृ० ९३९०, गुजरात।
४३. समरशाह या समर सिंह, सिद्धसूरी के शिष्य थे तथा उत्तरी गुजरात में पाटन  
के रहने वाले ओसवाल जाति से सम्बन्धित थे। मेरूगिरि (या कक्कासूरी),  
नाभिनंदन जीर्णोद्धार प्रबंध, सम्पा०, भगवान दास हरकचंद, हेमचन्द्र आचार्य  
ग्रंथमाला, अहमदाबाद, १९२८, भाग तीन, पद १३
४४. सी०बी० सेठ, जैनज्म इन गुजरात, बंबई, १९५३, पृ० १७२-१७५;  
मोहनलाल डी देसाई, पूर्वोक्त।
४५. नाभिनंदन जीर्णोद्धार प्रबंध, पूर्वोक्त, खण्ड-५, पद ३२१; के०एच० कामदार  
का लेख- समरसिंह, ए ग्रेट गुजराती ऐट द कोर्ट ऑफ डेहली, प्रोसीडिंग्स  
ऑफ ओरिएंटल कांफ्रेस ऑफ बड़ौदा, पृ० ६२९-३३

४६. खरतरगच्छ पट्टावलि, पृ० ६६-६७
४७. अगरचंद नाहटा, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पूर्वोक्त, पृ०-१२
४८. खरतरगच्छ पट्टावलि, पृ० ७२
४९. वही, पृ० ७२-७५
५०. सी०बी० सेठ, जैनज्म इन गुजरात, पूर्वोक्त, पृ०-१८१
५१. नाभिनंदन जीर्णोद्धार प्रबंध, पूर्वोक्त, खण्ड-५, पद ३२५-३५
५२. सी०बी० सेठ, जैनज्म इन गुजरात, पूर्वोक्त, पृ० १७९-८१ ; कालीपद मित्रा का लेख 'हिस्टारिकल रेफ्रेन्सेज इन जैन पोएम्स ; प्रोसिडिंग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, हैदराबाद अधिवेशन, १९४१, पृ० ३०१-२
५३. विविध तीर्थकल्प, पृ० ४५-४६; काली पद मित्रा का लेख- पूर्वोक्त, पृ० २९९; जाकिर हुसैन, सम ओरिजिनल तुगलक डाक्यूमेंट्स एंड देयर सिग्निफिकेंस, प्रोसिडिंग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, गोरखपुर अधिवेशन १९८९, पृ०- २२०
५४. कालीपद मित्रा का लेख 'हिस्टारिकल रेफ्रेन्सेज इन जैन पोएम्स ; प्रोसिडिंग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, पूर्वोक्त, पृ० २९६, पीलीस ग्रोनोफ, स्पीकिंग ऑफ मोन्स, ओकाविले ओन्त मोजेक प्रेस, १९९२
५५. हीरालाल: डिस्क्रिप्टिव लिस्ट आफ इन्सक्रिप्शंस इन सेंट्रल प्रोविंसेज एण्ड बरार, नागपुर, १९१६, पृ०-५०
५६. विविध तीर्थकल्प, पृ०-४६
५७. वही, पृ० ४६
५८. वही, पृ० ४६; एल.बी.गाँधी, श्री जिनप्रभसूरी अने सुल्तान मुहम्मद, मारवाड़, १९३९, पृ० ४२-४३
५९. विविध तीर्थकल्प, पृ० ९५; के०वी०आर० आयंगर, आइडेंटीफिकेशन ऑफ कुतुलखान मेंशंड बाई जिनप्रभसूरी इन हिज विविध तीर्थकल्प, स्टडीज इन इंडियन लिटरेरी हिस्ट्री, १, एस जे एस संख्या ३७, बंबई, १९३५, पृ० ४३-४७
६०. विविध तीर्थकल्प, पृ०-९५
६१. पुष्पा प्रसाद का लेख- 'द जैन कम्युनिटी इन द देहली सल्तनत', पूर्वोक्त, पीलीस ग्रोनोफ, पूर्वोक्त।
६२. विविध तीर्थकल्प, पृ०-९६
६३. वही, पृ०-९६
६४. यंत्र राज, सम्पा.- सुधाकर द्विवेदी, बनारस, एल०बी०गाँधी, पूर्वोक्त, पृ०११३-१५
६५. जिनविजय, प्राचीन जैन लेख संग्रह, भाग-२, शिलालेख संख्या- ३८० पी०सौ० नाहर, धार्मिक उदारता, जैन ऐंटीक्वैरी, आरा, १९३५, वर्ष दो, अंक १, पृ०-३३
६६. खरतरगच्छ पट्टावलि, सम्पा०: जिनविजय, पृ०-५५
६७. जंबु सागर, पद २९; आई. एच. सिद्दीकी, हिस्ट्री ऑफ शेरशाह सूरी, अलीगढ़, १९७१, पृ०- १४२

# History & Doctrinal Aspects of Jainism

Dr. Shugan C Jain

---

*The paper intends to discuss the origin of Jainism, role of Tīrthaṅkaras especially Lord Mahāvīra in historical perspective . The author very clearly gives the doctrinal aspects of Jainism where he deals with the prominent doctrines of Jainism, in brief. He also discussed the basic concepts of religion, karma doctrine and Mokṣa. In the same way he presents a detail account of religious rituals and practices in Jainism i.e. Daily pūjā, periodic, festivals, holy recitals, accessories used by Jainism during religious performances. In the last he elaborates the social consciousness in Jainism. - The Editor*

## **Preface:**

origin of Jainism emanates from the inquisitiveness of human beings seeking true knowledge of their being and bliss. Nature of an entity is its religion<sup>1</sup> in Jain philosophy. Infinite knowledge and bliss are the true nature of soul/ self/ ātmā<sup>2</sup>. The path to realize this true nature of self is shown by their spiritual leaders, called *Jinas*. *Jinas* first realize this state of true self themselves and then guide others to achieve the same. Followers of the *Jinas* are called Jains and the path shown by them is called Jainism. Jains claim that 24 such *Jinas*, who also propagated their experiences and are called *tīrthaṅkaras* or ford-maker, appear in each half of a time cycle<sup>3</sup>. This process continues from the beginning-less time. Mahāvīra was the most recent i.e. 24<sup>th</sup> ford-maker of Jains of the present time cycle. Jainism is India's one of the most ancient *Śramaṇa* or non-Vedic religious traditions and is distinguished by its extreme .1

## **History of Jainism**

Jains consider Rṣabhadeva / Ādinātha as their first ford-maker and founder of Jainism in the present time cycle<sup>4</sup>. He lived several millennia ago before the present work culture i.e. before living as a

community existed. He is accredited with introducing the work and knowledge based culture in India by bringing order in the society, imbibing work ethics in them, making them prosperous in worldly comforts and later renouncing all his wealth to realize the true nature of his self i.e. infinite knowledge and bliss. He propagated the doctrines of non-violence, truthfulness, non-stealing, celibacy, and non-possessiveness. We find many references to Rṣabha in Śramaṇic, Vedic and other texts along with those of 22<sup>nd</sup> (Nemīnātha) and 23<sup>rd</sup> (Pārśvanātha) ford-maker as well as linkages of 20<sup>th</sup> Jain *tīrthaṅkara* Muni Suvrata with Rāma and 22<sup>nd</sup> *tīrthaṅkara* Nemīnātha with Kṛṣṇa. Thus we see continuity in the existence of Jainism since Rṣabha's time to date<sup>4</sup>. Mahāvīra, the twenty fourth ford-maker, is the most recent ford-maker of Jains. Many historians consider him erroneously to be the founder of Jainism.

Today's historians<sup>5</sup>, based on excavations of Mohanjodaro, Harappa and Gujarat have gone back as far as 4000-8000 BC. Some images and writings found there make Jains infer that Jainism existed at that time. There are other textual indications that suggest the existence of Jainism from 4000 to 2000BC. Historically Jainism can be traced to 1000BC when Pārśvanātha, the 23<sup>rd</sup> ford-maker of Jains was born in Varanasi in a royal family, attained omniscience and rejuvenated Jainism. Parents of Mahāvīra are said to be his followers. The practice of Jainism as it is now, goes back to 600BC when Mahāvīra, the 24<sup>th</sup> ford-maker attained omniscience and established the Jain canons, church, philosophy and practice to attain liberation.

#### **Mahāvīra, the 24<sup>th</sup> Tīrthaṅkara<sup>6</sup> -**

Mahāvīra was born to Siddhārtha and mother Trīśālā on 13<sup>th</sup> day of rising moon in the month of Baiśākha around 600 years before the Christian era. His father was a district chieftain of Vaiśālī, a prosperous district in the present state of Bihar. He had royal lineage. His family practiced the religion of Pārśvanātha, the 23<sup>rd</sup> ford-maker of Jains. Since the day his mother conceived him, there were unusual and auspicious indications like enhanced prosperity of all in the state. He displayed superior knowledge and bravery since childhood,

and finally renouncing the worldly pleasures to at the age of 30 to realize the true nature of self. For 12.5 years, he practiced extreme physical, mental and speech penance by leading a secluded life outside the town limits and mostly meditated upon his self to understand and experience the real nature of his soul. He experienced the real self/soul and attained omniscience at the age of 42. Since then he started preaching his philosophy for 30 years. He attained liberation (*nirvāṇa*) at the age of 72 on the last day of waning moon in the Indian calendar month of *Kārtika* (approx October-November) at Pāvā in the state of Bihar, He was given several names like Vardhamāna, Vīra, Ativīra, Sanmati and lastly Mahāvīra. Buddha was a contemporary of Mahāvīra and hailing from the same region. After the *nirvāṇa* of Lord Mahāvīra, Jainism moved towards southern and western India where the Jain monks observed/practiced some changes in their ethico-spiritual practices giving rise to several sects and sub-sects. The major sects and sub-sects as prevailing today are:

- Digambara: Bīsapantha, Terahpantha,
- Śvetāmbara: Mūrtipūjaka, Sthānakavāsi Terāpantha

From the demography<sup>7</sup> and philosophy of Jains, we see them concentrated in big cities of India where economic progress was easier to achieve. The latest census of India conducted in 2006-7 shows Jains as a small minority of 4.8 million persons living primarily in the states of Maharashtra, Gujarat, Karnataka, Madhya Pradesh and Delhi (including adjoining western Uttar Pradesh and Haryana). Further this small minority is most literate (more than 98 percent) and economically prosperous. Similarly we see a number of Jains (almost 100000) migrating to USA, Canada, Europe and other parts of the world to test their academic and business acumen. Most of them are now well established.

Vast corpus of Jain scriptural texts offer detailed discussions of all aspects of their ontology, philosophy, religion, metaphysics, ethics, karma doctrine, mysticism, epistemology, rituals etc. The original texts are written in *Prākṛta* while later ones are in Sanskrit and other

regional languages. There are twelve primary canons called *Aṅga pravīṣṭa* and a vast corpus of secondary texts. Some examples of secondary texts are *Uttarāc̣hvayana*, *Daśavaikālika* and *Āvaśyaka*, *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, *Tiloyapaṇṇati*, *Samayasāra*, *Pravacanasāra*, *RatnaKaraṇḍa Śrāvakācāra*, *Mūlācāra*, *Jayadhavalā* etc. *Tattvārthasūtra* by Umāsvāti is considered as a holy text by all Jains and is a comprehensive text written in Sanskrit and aphoristic style. A number of devotional poems and *pūjās* were written and are recited regularly by Jains. *Bhaktāmtara Stotra*, *Kalyāṇa Mandira Stotra*, *Sāmāyika pāṭha*, twelve contemplations, self-critique / reflections (*Ālocanā pāṭha* or *pratikramaṇa* mantras) are some of the popular devotional poems.

## DOCTRINES

The following statements indicate the main doctrinal aspects of Jainism:

⇒ There are infinite numbers of souls, each soul being identified as a living being. Each soul has eternal existence and has capability to attain supreme soul status. All souls or *jīvas* (living beings) are equal and can achieve supreme soul status (*Paramātmā* or Godhood) by their own strenuous efforts.<sup>8</sup>

⇒ No living being wants pain. Each living being is responsible for all its actions and the results thereof. Living beings help each other.<sup>9</sup>

⇒ The cycles of birth-death-birth are called world (*Samsāra*). The pure soul stays forever at the summit of cosmos (*Loka*) in pure state and enjoys its true nature of infinite knowledge and bliss.

⇒ Non-violence (*Ahimsā*) is the heart of Jain ethics. ‘Non violence is the supreme religion’<sup>10</sup> and Live and let live are the slogans most talked about by Jains to the extent that these act as emblems of Jainism. The holy Jain text *Ācārāṅga* defines *Ahimsā* as “none of the living beings ought to be killed or deprived of life, ought to be ordered or ruled, ought to be enslaved or possessed, ought to be distressed or afflicted and ought to be put to unrest or disquiet”.<sup>11</sup> Later on Mahāvīra in *Praśnavyākaraṇa* gives 60 synonyms

for *Ahimsā* (e.g. compassion, forgiveness, service, love, tolerance, equanimity etc.) for practice by us in our day to day life.<sup>12</sup>

⇒ Non-possession (*Aparigraha*) is the way of life. Attachment and possessions (*Parigraha*), be they psychic or material, are the root cause of all pains in this, past and future lives.

⇒ Truth is multifaceted. Doctrine of Multiplicity of viewpoints (*Anekānta*) in thoughts enables us to resolve all conflicts in a non-violent way.

⇒ *Syādvāda* or conditional dialectic in speech i.e. expression of *Anekānta*.

### **Basic conceptions of the religion**

All existents in this universe are real. Jain term for existent is *sat* (literally-being, reality) and represented by the term Substance (*Dravya*). Reality or substance is endowed with the three characteristics namely origination, destruction and permanence. Substance is an amalgam of attributes and modes<sup>13</sup>. By substance Jains understand a base or foundation for manifold attributes, which undergo transformations in the form of acquiring new modes and losing old modes at each moment i.e. being and becoming or permanence and change i.e. persistence with change.

Substances can be grouped into two broad categories namely; living-beings (*Jīva*) and non-living beings (*Ajīva*).<sup>10</sup> *Jīvas* are sentient and further classified as pure souls and empirical souls (i.e. pure soul bonded with *kārmika* matter). These *karmas* are the causes of different material modes of soul. Empirical souls are the living beings, which have four vitalities / capabilities called *prāṇas* for identifying them as living being, namely, senses (taste, touch, smell, form/color and sound), energy (mind, speech and body), breathe and age (lifespan). They exist in the four realms of existence / destinies, namely, heavenly, human, hellish and sub-human/animal beings. There are infinite souls in this cosmos.



On the other hand, pure soul i.e. without bonding with matter karma does not bother about anything else except enjoying its true nature of infinite perception, knowledge, bliss and energy. This is the ideal to be achieved by all souls. The state of pure soul is equivalent of Godhood and the pure soul is not involved in any acts of creation / destruction /rewards to others.

### **Karma doctrine**

Jains claim of the concept of karma, as a complexity of material particles infecting the sinful souls, is indeed unique. The fine matter particles called *kārmaṇa vargaṇās* can become karma. These particles fill the entire cosmos. The bondage of karma with soul is due to perverted views, non-restraint, carelessness, passions (anger, deceit, pride and greed) and activities of mind, body and speech. Activities of mind, speech and body cause vibrations in the environment causing these matter particles to move towards the soul. They unite with the soul if the soul is in a state of passion or the other factors mentioned earlier affecting the soul. These subtle particles when bound with soul are called matter or *dravya karma*. As the empirical soul continues to be in a state of passion, these material karmas keep on getting bonded with the soul. The karma matter that entered into a union with soul has eight species which are further classified in two groups of four each called obscuring and non-obscuring with varying effects. Their number and character are conditional upon the conduct/state of soul; e.g. if it is good, the soul assimilates good karma species and when the conduct of soul is bad, it assimilates bad karma species. The karma may stay latent for a long time but may appear later on or quickly when the right moment arises. The duration and intensity of the effect of karma depends upon the state of mind at the moment of its assimilation. When the karma's efficacy expires it becomes extinguished. Thus to regain its natural and pure state, the defiled soul or empirical soul must make efforts (path of purification) to free itself from these karmas. Further the condition (species, duration, intensity etc) of some of the karma can be changed by the efforts of soul.

### **Liberation / *Nirvāṇa* / *Mokṣa***

All these terms used interchangeably imply freeing the empirical soul from all types of *kārmik* bondages. The path to liberation is called *mokṣa mārga* which is 'right faith / belief, right knowledge and the right conduct practiced together'.<sup>14</sup>

Right belief is defined as belief in the true nature of pure self (i.e. the existence and attributes (infinite knowledge, bliss and energy) of self /soul and its capability to attain that state. From practical viewpoint, right belief is called firm belief in the true deity i.e. *Jina* who is without any attachment and aversion and has won all sorts of physical and mental flaws); true canons (sermons of *Jina*) and true teacher i.e. who practices right conduct and is fully knowledgeable of the Jain canons.

Right knowledge implies the true and detailed cognition of the real nature of the object of knowledge as it is. This knowledge is free of doubt, perversity and indecisiveness. Knowledge can be acquired using *pramāṇa* (organs of valid knowledge) and *naya* (doctrine of viewpoints). Ordinary people like us need to use the doctrine of viewpoints (*naya*) to acquire right knowledge about any entity. Doctrine of multiplicity of viewpoints or pluralism, called *Anekāntavāda*, is a unique contribution of Jains in the field of epistemology.

Right conduct implies 'Giving up all activities which lead the practitioner to continue its journey in trans-migratory cycle'. This practice is based on the premise 'Jainism posits that each individual (*Jīva*) holds an eternal soul that has always existed and will continue to exist. Our current highly prized status as human beings is transient and hence must be treasured and respected. On this basis, we can find a psychology within Jainism that emphasizes the importance of every single act, every encounter within the human as well as the non-human realms'.

### **Practicing Right Conduct**

The doctrine of conduct is based on the principle of Non-violence

which imposes self restraint, carefulness and practice of daily essential duties and observing vows<sup>15</sup>. Jain scriptures have classified right conduct in two categories namely: for a householder and for monks /ascetics. Due to his / her inadequacies of determination, capabilities and involvement in worldly pursuits, a householder cannot pursue *mokṣa mārḡa* 100% of time. The practitioner gradually enhances the level of his detachment to worldly activities from almost beginning till he/ she attains ascetic status and starts practicing the conduct of the ascetics who practice it 100% all the time.

### **Penance - Tapa**

Penance is essential to achieve dissociation of existing karma from the empirical soul. Penance is broadly classified<sup>16</sup> as external (six types) aimed at different types of abstinence from foods and gaining control over bodily tendencies, and internal (six types) to develop detachment from the worldly things and ultimately free the soul from *kārmika* matter by practicing proper interactions with others and learning, contemplating and meditating on the self /soul.

### **Religious rituals and practices:**

#### **Rituals**

We shall divide these, derived from the six obligatory duties (*Āvaśyaka*), in routine daily religious activities performed at a place of worship called temple or *sthānaka* and periodic activities.

#### **1. Daily: Pūjā / worship:**

*Pūjā* is an act of devotion or obeisance towards a divinity and interactions with that divinity in the form of making an offering to its iconic form or images /idols. Laity performs both *dravya* (with the aid of material substances) and *bhāva* (psychic or mental) *pūjā*. *Sthānakavāsī* Jains do not worship an iconic figure and hence perform only psychic *pūjā*. *Ācārya* Jinasena says 'Reciting the virtues which are auspicious and acquired by *Jinas* is called *pūjā* / worship'. A devotee, who is all praise for these virtues; feels happy, contented and elated by reciting these virtues, such devotion results in earning meritorious karma and even attaining bliss. Throughout the *pūjā*,

the devotee chants mantras, hymns almost silently and makes certain actions, like using fly whisk to serve the divinity, using lamp and incense sticks or a small metal fire pot and moving in vertical circular form before the idol (called *ārti*), bowing etc. Śvetāmbar subjects *Sthānakavāsī* and *Terāpanthī* Jains, on the other hand, either visit their monks /nuns, sing hymns in *Sthānaka* or at common meeting places called *aṇuvrata bhavans* or *sādhanā kendras*. There are special group periodical *pūjās* held on holy days as per Jain calendar. It is interesting to note that more than 20000 Jain temples exist in India alone for a small population of about 5 million Jains.

## 2. Periodic:

These consist of observing fasts on special occasions, visiting monks to serve them, special *pūjās* on festive days, festivals and pilgrimage to holy places. The idea of such activities is to leave behind the daily worldly activities and be immersed in religious pursuits for a specific period. All these activities occupy very special place in the life of Jains as can be seen in their temples, meetings with ascetics and observing festivals and large number of pilgrimage places. For example on 8<sup>th</sup> and 14<sup>th</sup> day of each fortnight, Jains even avoid eating the green vegetables and fruits. They usually go to a pilgrim place at least once or twice a year. Similarly Jain ascetics who do not have any worldly possessions rely solely on the householders to provide them food, shelter, implements to observe restraint etc and access to religious texts etc. Some of the peculiarities of Jain festivals and pilgrimage are: spiritual purification, preaching right conduct and experience own nature and detachment.

### 2.1 Festivals :

Festivals also provide an opportunity for the community to know each other, build community feelings, take up community projects and understand each other better. Important Jain festivals are: *Paryuṣaṇa/ Dasa Lakṣaṇa* is the most important (often called as *mahāparva*) of all Jains. These occur in the Indian month of *Bhādra* (August-September) and considered most auspicious and celebrated with vigor and activities; Birthday of Lord Mahāvīra and his

liberation day called *Diwālī* are other important festivals. Consecration of a new temple to make it worthy of worshipping is another festival which is celebrated with lot of pomp and show.

## 2.2 Important Jain Pilgrima places:

Jains go to *Tirtha*/pilgrim places quiet often, especially the middle aged and the elders and stay at pilgrim places for extended periods of time to acquire more religious knowledge, practice ascetic life and give up worldly activities. Pilgrimage provides them the opportunity to devote full time for spiritual purposes and hence enables them to advance in their path of spiritual purification. There are 210 pilgrim places of Jains in India. The most visited ones are Sammedasikhar, Palitana, Pavapuri, Nakoda, Sri Mahāvīraji Tijara, Śaṅkheśvara and Hastinapur.

## 3.0 Holy recital (mantra) Navakāra :

<i>ṇamo arihantāṇaṃ</i>	Obeisance to the perfect beings with body
<i>ṇamo siddhāṇaṃ</i>	Obeisance to the liberated souls
<i>ṇamo āyariyāṇaṃ</i>	Obeisance to the heads of congregation
<i>ṇamo uvajjhāyāṇaṃ</i>	Obeisance to the holy teachers
<i>ṇamo loe savvesāhūṇaṃ</i>	Obeisance to all the holy monks

Following four lines are also made a part of the *navakāra* mantra by Śvetāmbara Jains.

<i>Eso pañca ṇamokkāro</i>	This fivefold praise
<i>Savve pāpaṇāsaṇo</i>	Destroys all bad karmas
<i>Maṅgalaṃ'ca savvesiṃ</i>	of all the auspicious mantra it is the holiest
<i>Paḍhamaṃ havai maṅgalaṃ</i>	Reciting it results in auspicious karmas.

## 4.0 Accessories used by Jains during religious performances:

i. **Dresses:** It is important that the devotee is clean both externally and internally (tension free mind) to be effective in the rituals. Therefore the devotee takes a bath before the rituals. If the devotee is involved in giving bath to the idol then he is required to wear

unstitched clothes / dress. He will cover his head with the same cloth also. Women wear special dedicated cloths for the occasion. Śvetambara Jains use a mouth covering also. In case of special worships, devotees do put up artificial crowns and garlands to feel like gods and kings while performing the rituals.

**ii. Hymns:** There are number of *pūjās*, songs, mantras, meant for specific purpose, occasion and of twenty-four ford-maker used while performing the worship.

**iii. Yantras:** Some special alphabets, words and mantras when placed in graphical formations on metal plates are called implements /instruments (*yantra*). It is said that these *yantras* do possess certain super natural powers and are therefore considered as important devices in Jain worships. In fact, historically it is said that before the advent of idol making, these *yantras* were used to convey the same feelings as idols of *jinas*. At times they are also used as an alternate to idols.

**iv. Rosaries and incense:** Rosaries, normally containing 108 beads, are used primarily to aid recite mantras for 108 times and are provided in the temples. Incense sticks or powder is used to make the environment fragrant and give a feeling of holiness. Jains also use earthen or metal oil lamps to signify the acquisition of the light (true knowledge).

### **Social consciousness in Jainism**

Even though Jainism is an ascetic based religion which preached detachment from worldly life to attain liberation; yet we find Jains as a community continue to exist as a prosperous, educated, non violent community contributing tremendously to the society in which they live. This is obvious from the large number of schools and educational institutions (over 4000), several thousand hospitals and dispensaries, animal shelters, homes for destitute, pilgrim places, objects of art like Dilwara temple, Shravanabelgol built and run by Jains along with vast corpus of literature and continuous charity to help the socially underprivileged fellow beings.

## References

1. 'Dhammo vatthu sahāvo..' *Kārtikeyanūprekṣā* by Svāmi Kārtikeyakumāra, *gāthā* 478.
2. 'Anantacatuṣṭaya ke dhaniā.Vinay Pātha in *Pujā Pradīpa* by Pt. Hira Lal Jain, The four infinities are infinite conation-knowledge-bliss and energy.
3. *Tattvārthasūtra* by Umāswāti, Sūtra III.27.,Pub.Digamber Jain Trilok Shodh Sansthan Hastinapur Meerut,2010 ***Bharatairāvatayorvṛddhihrāsau ṣatsamayābhyaḥ mutsarpīnyavasarpīṇibhyām.***
4. *Ādipurāṇa* by Jinasena.
5. *Bhāratiya Itihāsa, Eka Dṛṣṭi* by Dr J.P.Jain.
6. *Jain Legend* by AC Hastimal, translated by Shugan C Jain. Pub.Samyakjñāna Pracāraka Maṇḍala, Rajasthan India, 2011
7. *Jains in India and abroad* by Prof. Prakash C Jain, International School for Jain Studies, New Delhi, 2011
8. *Chaha Dhāla* by Pt Daulat Ram verse 1.2 'ye tribhuvana meṇ jīva ananata sukh cāhe.'
9. *Tattvārthasūtra* by Umāswāti Sūtra V.21 'parasparopagrahao jīvānām.'
10. *Samaṇa-Suttam* by B. Jainendra Kumar. 'Dhammo maṅgala-mukkhitam Ahimsā sañjamo tavo.'
11. *savve pāṇā savve bhūtā savve jīvā sattā ṇa hantavvā, ṇa pritaveyavvā, ṇa uddaveyavvā, Ācārāṅga Sūtra*, 132, (Āgama Prakāśana Samiti, Beawer) from paper by Prof K.C.Sogani.
12. *Praśnavyākaraṇa Sūtra*, 6.1.3, pages 683-684, (Jaina Vishva Bhārati, Ladnun, under the title "Aṅgasuttāṇi" from paper by Prof K.C.Sogani.
13. *Tattvārthasūtra* by Umāswāti, Sūtra V.29,30,38;' *sad dravya lakṣaṇam, utpādavyaya dhrauvyayuktam sat, guṇaparyāyavad dravyaṃ* '.
14. *Tattvārthasūtra* by Umāswāti, Sūtra I.1: 'samyagdarśana-jñāna-cāritrāṇi-mokṣamārgaḥ.'
15. Conduct of householders consists of
  - i. giving up seven vices, observing 8 basic virtues related to use\ of non-violent food and drinks, six essential daily rituals namely.
  - ii. *Sāmāyika* or State of equanimity of the self (like meditation

- and yoga in Hiaa or reciting the virtues of the 24 *tīrthaṅkaras*.
- iv. *Vandanā* or veneration of the holy teacher/s.
- v. *Pratikramaṇa*- Recollecting the mistakes committed and seeking forgiveness.
- vi. *Kāyotsarga* or relaxation i.e. developing a feeling of separateness of body and self.
- vii. *Pratyākhy na* or vowing not to make mistakes or practice *Mokṣa Mārga* in future. Minor vows called *aṇuvratas* namely Non-violence, Non-stealing, Truthfulness, Celibacy and Non-Possessiveness with limitations. The concept of *aṇuvratas* is based on minimization of violence, stealing, lying, sex with own married wife only and acquiring possessions. Thus Jains talk of the paradigm 'prevention is better than cure' as the basis of their ethics.
16. Six external namely fasting, reducing normal diets, abstaining from specific foods, giving up delicious foods, lonely habitation and mortification of body; and six internal types namely: expiation, reverence, service, study, renunciation and meditation.

\*\*\*\*



## RITUALS AND HEALING: THE CASE OF THE JAIN COMMUNITY IN MEDIEVAL INDIA

SHALIN JAIN

---

This paper intends to discuss the role of textual values embedded in biographies of minority Jain monks, didactic stories and hymns dealing with rituals and specific cases of healing in Medieval India. The symbolic gestures and traditions of the Jain community cultivated such a genre. This phenomenon may be explained from the ways in which religious communities produce material goods and from the ways in which they reproduce social relations. The Jains produced socially through relations which defined and ordered their world in morally significant ways. The organized peects and their propagators were performing rituals and acts of healing to enhance their influence as well to gain legitimacy, while for individuals it was a matter of faith. This not only fulfilled the obligation of charity (*dāna*) and public service but also helped to satisfy the individual's need for achieving the proper mental attitude for guidance by following the proper rituals. Many a Jain hymns have been credited with the miraculous power of healing. The Jain religious composers and authors intentionally emphasized upon the links between used rituals and the resulting healing to strengthen the ties between their *gacchas* and particular castes and clans. The ritualism of Jains and aspects of healing associated with it at times seems to be ambiguous as theoretically Jainism neither favoured miracles nor approved use of rituals for such purposes. Yet while considering ideological moorings of any individual, sect or institution either religious or secular, one has to remember that it never totally reflects into the empirical reality. Rather incorporation of many such beliefs and practices was intended to define and strengthen the bonds and influence of the Jain ascetics and sects. - The Editor

In some academic arenas use of rituals has been seen as “non-scientific” medical systems being remnant of primitive or peasant, old- country traditions, or as characteristic of uneducated, lower class persons.<sup>1</sup> Yet processes of healing through rituals are not just related with individual sense of relief or personal empowerment from external or internal sources. There is growing evidence in the medical and social psychological literature that illness and diseases are closely linked with issues of power and domination.<sup>2</sup> So one can argue that use of rituals for the astronomical, health, psychological or symbolic healing was catered as an essential process of the making of hierarchical socio- economic structures in the pre- modern societies. In case of Jainism construction of a particular belief system through extensive and varied use of symbolism represented many different meanings in the religious cosmology of community<sup>3</sup>. Religious community of Jains in medieval north India used a well led tradition of rituals in the processes of healing to strengthen its community bonds and a course of redefining everyday forms of religious processes. So this paper argues for a materialistic historical explanation of the use of rituals in the processes of healing.

Before citing examples one requires to discuss ritual as a theoretical concept defining the religious and social processes in the historical context of their formation. Each religion has two forms of practices; one is of spiritual philosophy which evolves the religious thought. But the spiritual philosophy of the religion cannot last unless it has support of a particular code of conduct in form of the rituals. Rituals, or, better, actions that have become ritualized, stand in a dual relationship to actors: as a product of the actors’ own agency and intentions, and as prefabricated acts that stand outside the philosophical core of the religious discourse. Thus rituals are the material forms of the philosophy of the religion to lead people on a journey from their ‘outer’ to the ‘inner’ of the self. Both the philosophy and rituals have to be in terms of the empirical reality. The South Asian indigenous understandings of disease as forms of possession or affliction have come to gain visibility in and around discussions of social and religious matters as well as the constitution

of community and gendered identities. Each religion has its own codes of conducts. These codes are heart of religion and keep it alive through everyday reproduction of the religious rituals and beliefs. It is believed that each ritual has a deep philosophical meaning. As an outward external manifestation of religious doctrines, ritualistic actions are generally seen as intended to eradicate the evil *karmas* (deeds) to destroy the cycle of rebirth through the medium of ritualistic performance. Generally, rituals are formed in the prescribed order through scriptures or are enshrined in tradition. The majority of people who actually attend ritual performances, do so more to associate themselves with their religious community or to have a sense of belonging to their religion rather than for a full understanding of the spiritual meaning of the ritual. Thus ritual performance have multilayered objects for any religion, firstly to recall the inherent spiritual philosophy of the religion, secondly, as a mode of ensuring future salvation for the laity of the community and thirdly to bring community together by providing a sense of common identity and bondage. Thus for the larger community rituals remain a process of community formation.

In this context medieval Jain history rituals remained a fiercely contested arena where scriptural and proper mendicant practices have been assessed to locate the true Jain lineage of the rituals. For convenience, we can categorize Jain rituals under two main headings: regular observances at the temples, and periodic observances, such as festivals, fasts, pilgrimages, and rites for special occasions. Worldly and otherworldly values have been brought into a culturally viable fusion within a specific Jain ritual culture. The cult of the *Śvetāmbara Dādāgurus*<sup>4</sup> integrated the religious tradition to which it belonged, and in so doing brought Jainism's goal of final liberation, always central to this tradition, into contact with the social and material world inhabited by an actual Jain community. Study of such standard features of Jain ritual culture reinterprets their ritual meanings and alters its context radically.

The whole process of the reconstruction of the Jain community on

everyday basis was based on the axis of philosophy and rituals of the religious community. The philosophical virtues like non-violence, forbearance, simplicity and straightforwardness were taught and practiced through performance of certain everyday rituals. The daily and other practices and rituals known as *kṛyās* or *caryās* were actually performed or followed by typical lay followers of the religion. It is important to notice that rituals played a unique role for constructing the Jain identity and formation of Jain community in medieval India.

Unlike other religions, Jainism has no priesthood. Though ascetics have an important role as religious teachers for lay people, they form in no sense priesthood. They are respected and venerated in rituals and play an important part in guiding religious activities, however, they perform their daily and periodic rituals. They do not act as intercessors or mediators between the laity and any divinities. They have no part in the administration of the temples, and indeed their peripatetic life precludes this. With rare exceptions their presence is not essential to the rituals. There are certain ritual functions which are infrequently delegated to trained or qualified specialists (*vidhikāraka*). A temple which holds the consecrated image of the *Jina* would need to make provision for the essential daily ritual, veneration of the image and lay people perform this service in the course of their devotion, bathing and anointing the image, and making the ritual offerings before it. Often, however, the temple will employ a temple servant (*pujārī*, but actually inferior to the usual priest) whose particular function would be to carry out duties like cleaning the temple premises and collecting other utilities required for the sacred image, apart from performing the full daily chorus.<sup>5</sup> Thus in case of Jainism performance of rituals remains an activity to be performed solely between the devotee and the God without any mediator. Thus, a conduct of rituals having well led meanings and symbols becomes fundamental to explain the existence of the Jain community.

To perform the temple rituals themselves before entering the sanctum sanctorum (*vedi*) in the temple, the worshipper bathes and puts on

pure clothing, to emphasize the goal of purifying one's soul of the stain of karmic bondage. As an act of separation from the profane world, some Jains will recite three times an ancient *Prākṛta* phrase. While taking *darśana* of the idol of *Jina*, the worshipper imagines that he or she is not just in front of a metal or stone image but is in the actual presence of the *Jina*, who is a witness to the individual's spiritual efforts. The water and other articles used in the ritual bathing of the *Tirthaṅkara*'s images are treated as carrying healing properties. The sandalwood water collected after giving bath to Jain idols (called *gandhodaka*) is applied to the bodies of the worshippers (preferably on forehead, eyes and ears) transmitting the sacred power of the image to the worshipper. In case of illness or injury, it can be directly applied to afflicted parts of the body with beneficial results. The power of this sacramental water is decided on the basis of the history of the image. For the devotees certain questions like how the idol was created? Who was the officiating ascetic at the time of the image consecration and the historical- mythical sanctity of the venue of the image? etc. becomes significant to hold their belief in the healing properties of the idol. The power of the sacramental water is associated with the power of the image which in turn is circumstantial. At times the images consecrated by the most revered medieval Jain pontiffs particularly the Śvetāmbara Khartar Gaccha Dādāgurus or Tapā Gaccha Hīravijaya Sūrī have been seen as the most effective in healing properties due to their mantra induced power. Thus the cosmos of the Jain images has a materialistic ancestry of the past and their contemporary importance is established on the basis of a certain lineage.<sup>6</sup> Thus the healing properties of sacramental water celebrates a particular past of hierarchies and if it does not work may always be explained in terms of deteriorating ritualistic means be it in terms of the worshipper beneficiary or de-penishing power of the venue of the image. Thus on the one hand application of the sacramental water establish a direct relationship between the image incarnated God and the worshipper but on the other hand the process of the consecration of the image itself carries a socio- economic legacy to transmit its ritualistic conditions. This in turn also answers

why some Jain temples and images have flourished for centuries while some others have ruined and abandoned over a period of time. Miraculous discoveries of the Jain images and their rehabilitation are very much related with the myth of their healing properties.

Temples having such idols emerge as significant centres for attracting pilgrimage depends on such wonder working myths only, usually either related to health or obtaining wealth. Thus the long standing relationship between the worshippers and the images of certain shrines is not just a spiritual one. It also bears testimony to the prosperity and growth of a particular kinship and religious lineage in the case of the Jains. Inscriptions in the Jain tradition are usually associated either with individual *Jina* images or else with temples and pilgrimage shrines. Most images have inscribed at their base (if stone) or on their back (if metal) the details of when and where the idol was consecrated, the name or names of the laity who sponsored the consecration, and the name of the monk (and his lineage) who actually consecrated the image. Inscriptions on temples at pilgrimage shrines such as those at Ābū, Giranāra, or Śatruñjaya ritually treated as most powerful ones coincidentally also carries detailed information concerning the establishment of the temples and the lives of the major actors.

The process of healing does not remain limited to the arena of image carrying temples. It has been taken to the moral persona of the believers as well. The ritual of donation in Jainism has also been seen of healing the sins as a balancing act. The Jain lay-giver accumulates sin (*pāpa*) from cooking the food but accumulates more merit, good karma (*puṇya*) than sin (*pāpa*) by giving the food to the renouncer saint (giving the food with which a Jain renunciant breaks a fast is an especially meritorious act for a layperson). The renouncer remains unchanged in the amount of merit (*puṇya*) or sin (*pāpa*) he or she has, because renouncers are seen not to “eat” food but only to “use” food so that they may continue striving for liberation. They would not ask for the food to be prepared, wont they care about how it tastes. Furthermore, in theory, renouncers do not ask for food,

but, rather, members of the Jain laity ask them to accept the food. Thus, according to Jain ideology, no desire is connected with the food, and, therefore, no accumulation of sin (*pāpa*) occurs. The sin (*pāpa*) of the giver is “destroyed, not just transferred” in the process of this Jain giving.<sup>7</sup>

The personas of the Jain pontiffs particularly of the *Tapā Gaccha ācārya* Hīravijaya Sūrī and *Khartar Gaccha ācārya* Jīnacandra Sūrī (both contemporaries of Mughal Emperor Akbar) have also been seen as carrying the healing properties. The Jain hagiographical narratives have celebrated peoples’ conversion to the Jain fold or their shunning of violence or adorning vegetarianism as symbol of healing.<sup>8</sup> The Jain Guru’s magical abilities have been directly associated with asceticism; their powers, for example, are called *yogabala* (power of yoga), or *tapobala* (power of asceticism). These magical powers, in turn, are connected directly with the worldly well-being of those whom the *Dādāgurus* assist; indeed this is the entire reason for being of their cult. While worship of the *Tirthankaras* tends to be rationalized as an act of renunciation (*tyāga*), the *Dādāgurus*’ worship was based on the desire for miraculous intervention in one’s worldly affair. In fact, almost all of the medieval Jain pontiffs enjoyed their part of glory on the basis of the number of images they consecrated themselves.

Now one tends to cite some examples from Jain hagiographical traditions. According to the *Prabandhacintāmaṇi* of Merutunga, completed in early 1305 A.D., the twelfth-century Cālukya emperor *Jayasimha Siddharāja* was desirous of enlightenment and liberation. He questioned teachers from all the various traditions, but remained in a quandary when he discovered that they all promoted their own teachings while disparaging other teachings. Among the teachers he questioned was the great Śvetāmbara mendicant Hemacandra, known as the Omniscient One of the *Kali Yuga* (*kalikālasarvajña*). Rather than promote Jainism (which Hemacandra on other occasions was more than willing to do he assisted Vādidevasūrī in defeating the Digambara Kumudacandra and later convinced Jayasimha’s

successor *Kumārapāla* to adopt the vows of a Jain layman), *Hemacandra* told a story with a rather different moral. Once, there was a merchant's wife, who sought a means for restoring the affections of her husband, who had deserted her for another woman. She obtained a spell that was guaranteed to put her husband in such a state that she could lead him about with a string. When she applied the spell, she discovered that this was a literal promise, not a figurative one, as her husband was transformed into a bull. She led him to a pasture to graze, and sat beneath a tree and wept. There she overheard *Śiva* telling *Bhavānī* that in the shade of that very tree was an herb that would restore her husband to his human form. The woman gathered every plant she could find growing beneath the tree, and forced the bull to eat them all, with the result that he was restored to his human shape. The moral of the tale, according to *Hemacandra*, was that just as the man was restored by the herb, even though no one knew which particular herb did the trick, so in the *Kali Yuga* a wise person should obtain salvation by supporting all religious traditions, even though no one could say with absolute certainty which tradition it was that brought about that salvation.<sup>9</sup> So in this case visualization of power through ritualistic symbols used in healing produced a sense of order and transformation which in turn created multiple layers of bonds thereby consolidating the social power and at times political and economic control ones as well.

In continuation to the above argument one could see the expansion of Jainism in early medieval Rajasthan in the justified sense of ritual and healing. Most of the Rajasthani Jain clans claim their origin from Rajput (warrior ruling caste) lineage only. The legends describe the conversion of violent Rajputs to non-violent Jainism due to some miraculous healing only. In the Jain legends, the affliction or problem often besets a king directly, but sometimes indirectly through his son or sons (reflecting the theme of patrilineal descent, which was naturally central to tales concerning the origin of patriclans). Snakebites were frequently mentioned. There had been instances of illness of other kinds, defeat or imminent defeat, impoverishment, lack of progeny, and so forth. The situation was



saved by a Jain monk who often just happened to be somewhere near. The cure or rescue was usually accomplished by means of the ascetic's personal supernatural power, which was often conveyed by a *mantra* and sometimes transmitted physically by means of water or sanctified powder. Occasionally, a deity under the control of the ascetic was the agency of cure. In the popular hagiographies of these same ascetics, their power was linked directly to their asceticism (*yogabala* or *tapobala*, power of yoga or of asceticism) or to their special knowledge (as *jñānbala* or power of knowledge).<sup>10</sup>

Ritualistic claim of the Jain pontiffs armed them with such 'miraculous' powers which could be used for subduing non-Jain supernatural powers. An example is a celebrated incident in which Jīnadattasūrī subdued sixty-four *yogins* in the city of Ujjain; they became his followers and offered him boons. Jīnadattasūrī once saved a group of Jain laymen from a bolt of lightning by trapping it under his *pātra* (the bowl in which mendicants receive food from laypersons). Another similar instance is Jīnadattasūrī's subduing of the five *piras* of the five rivers of Punjab; these Muslim spirits likewise granted boons. The Dādāgurus also miraculously vanquish Jainism's human enemies, such as Brahmans and Muslim clergy. The text mentions an incident in which Brahmans placed a dead cow in front of a Jain temple; Jīnadattasūrī caused the cow to rise and expire once more in front of a Hindu temple.<sup>11</sup> Jīnacandrasūrī II, who is believed to have had great influence over Akbar, once confounded a hostile *Qazi* by turning a new-moon night into a full-moon night (by throwing a platter in the sky).<sup>12</sup> For Jain hagiographical perception use of such miracles was a righteous healing of the anti-Jain evil forces. But for the given historical context it could be seen as a contest for a contentious religious space to establish a particular religious superiority of Jainism at the cost of others by demeaning them.

Superiority of Jainism over non-Jain religions has been a regular objective of the narratives concerning rituals resulting into healings. Śvetāmbara Jains of Gujarat worship a popular *yakṣī* Ambikā

(literally means mother). She was a goddess of children (and possibly childhood diseases and/ or childbirth) who was “elevated” to the position of *yakṣī* attendant on *Tirthaṅkaras*. Her role as goddess of childbirth was preserved by medieval Śvetāmbaras, who worshipped Ambikā following the birth of a child.<sup>13</sup> The fourteenth century Jain text *Vividhatīrthakalp* of Jinaprabha Sūri<sup>14</sup> situates the story of Ambikā in the context of an anti-Brahminical perspective. As per the narrative an orthodox Brahmin named Soma lived in Koḍīnārā (in Saurashtra) with his wife Ambikā and two sons *Siddha* and *Buddha* (liberated and enlightened). On the *śrāddha* ceremony on the anniversary of his father’s death, *Soma* invited several Brahmins for a feast. *Soma*’s mother cooked the meal, and then went for her bath, leaving only Ambikā and two boys in the house. A Jain monk, who had been fasting for a month came to the house, and Ambikā gave him some food from the prepared feast. When *Soma* heard what had happened- from a Brahminical perspective she had polluted the food, rendering it unfit for the feast- he became angry and kicked her out of the house. She and her two sons wandered homeless. The sons were hungry, and Ambikā had no food for them, when a dried mango tree by the road suddenly gave four ripe fruit. The sons were thirsty, and there was no water to be found, when a dried lake suddenly filled with water. In the meantime, *Soma* had realized his error, and came running after Ambikā to bring her back. She saw him coming, feared further violence and so to save herself she and her sons jumped into a well and died. *Soma* died soon afterwards from remorse. Ambikā was reborn as Śāsanadevatā of Neminātha (the pre- eminent *Tirthaṅkara* of Gujarat, with his principle *tīrtha* at Girnār in Saurashtra, and cousin of Kṛṣṇa). *Soma* was reborn as a lion, her vehicle. The two sons are shown in the iconography of Ambikā, and the cluster of mangoes she is usually shown holding are the mangoes she fed to her sons.<sup>15</sup> In this story not only the subordinate gender equation but also the healing properties of Jainism are underlined. Transformation of Ambikā from a Brahmin housewife to a Jain deity may be seen as a process of divine healing due to her following of Jain virtues against the violent exploitation inherent in

The social meaning of rituals reflects in the sense of gender hierarchies as well. Within the Jain community this issue was very much a usual recasting of ideal and virtuous woman, who sacrifices for her husband and her family. A seventeenth century popular text Śrī Śrīpāla Rājā *no Rāsa* cites an ancient epic story that how woman could become agency to use rituals for the purpose of healing in the story. In the story Maināsundarī was married by her father to the leper, Śrīpāla, as punishment for her suggestion that it is *karma* and not her father that would determine her fate. After marriage, Maināsundarī continued her Jain devotion, adding the new practice of worshipping a symbolic representation of all that was worshipful for Jains (*siddhacakra*). This worship healed Śrīpāla and seven hundred other lepers. Śrīpāla learnt to perform *Siddhacakra* worship from Maināsundarī, and his worship led to his great wealth and general well-being. For Jain laywomen, Maināsundarī remains the perfectly devoted wife whose religious practices are performed for the well-being of her husband. She is credited with the miraculous cure of her husband's leprosy, as she taught her husband how to perform worship to the *Siddhacakra*.<sup>16</sup> *Siddhacakra* worship has become an orthodox means of gaining familial well being and see Maināsundarī and Śrīpāla as the archetypal married couple. But the gendered hierarchies of a father deciding the worst fate for her daughter by marrying her to a leper and the eventual remedy to heal not just the physical condition of the husband but the familial and social well being as well, does not show *Maināsundarī* in command of the situation at all. She had to follow her father's dictum and ultimately her husband got the material benefit of the ritualistic healing. Maināsundarī could just register her role for the future conditioning of a virtuous and dedicated Jain wife.

Rituals also remained a platform to assess the superiority between the two power centres of religious and political authorities. The issues of patronage and the moral supremacy of the religious authorities revolved around the conduct of rituals and miracles. Two inscriptions of eleventh and twelfth centuries from śravaṇvelagola

refer to *Vādīrāja* II a religious pontiff. He was considered as an exceptionally intelligent Jain monk and a conqueror of all religious cum philosophical debates with renowned scholars of all religions. He was thus known as *Vādīrāja* or the king of debaters'. He belonged to the Cālukya kingdom (King Jai Singh I in 12th century A.D.). Even though he was afflicted with leprosy, he had a very large following of disciples. One day in the court of King Jai Singh some courtiers made fun of *Vādīrāja* as a leper and ridiculed all the Jain naked monks. Angered by such statements, the treasurer who was a staunch follower of *Vādīrāja* said that *Vādīrāja* has a body of gold and the courtier is lying. The king decided to visit *Vādīrāja* next day. *Vādīrāja* consoled the treasurer and asked him not to worry. At night *Vādīrāja* composed the devotional poem known as *Ekībhavastotra* and had his body completely free from leprosy. Next day the king visited *Vādīrāja* and was amazed to see the lustrous golden body of *Vādīrāja*. He ordered the courtiers who defamed *Vādīrāja* to be punished.<sup>17</sup> Here again the material circumstances of patronizing the disciple and saving him from royal wrath is more important rather than the cure itself. *Vādīrāja* did not create the text to cure himself but the creation was conditioned by the immediate necessity.

Acts of ritualistic healing existed and were performed beyond institutionalized ways as well. Popular superstitions and beliefs also played a significant role. A seventeenth century north Indian autobiography *Ardhakathānaka* written by Banārsidāsa, a Jain merchant of Agra brings out this empirical reality. Kharagasena, father of the author, had many children but none survived beyond a few days. In the year V.S. 1637 (1580 A.D.) he along with his wife traveled to Rohtak, a revered place of a *satī*. The ritual of paying homage to *satī* was performed with a desire to be blessed with children and their survival.<sup>18</sup> At the level of elites also ritualism and its healing aspect was being followed at interreligious level. Jain mendicants' interaction with the Mughal royal authority holds this premise. In spite of all the structural religious differences between

Jainism and Islam as per Jain hagiography, the Mughal Emperor Akbar did not hesitate in allowing performance of Jain ritual for astrological healing of the ill effects in the birth chart of his grand daughter. A baby girl born to the eldest son Salim of Emperor Akbar was attributed to the astronomical constellation of *Mūla Nakṣatra*. Wise men told the Emperor that it augured evil to her father and that the evil should be checkmated by some means. Thereupon the Emperor consulted the Jain pontiff Bhānucandra on this issue. He suggested that it could be done effectively by performing the “*Aṣtottra-s’ata-snatra*” ceremony (108 baths to be given to the idol of *Jina* in its temple). His Majesty declared that the ceremony was to be performed without delay at the newly built residence of the priest, and that he and Śekhūji (Prince Salīm) would personally attend the programme.

Mughal emperors had followed a continuous policy of positive engagement with the small yet prosperous Jain community. This engagement was eyed not just for using the principle of non-violence as a soothing influence for the Mughal empire; Mughals also wanted to gain from the economic resources of the Jains.<sup>19</sup> So in this case ritual and healing had a symbolic social role as well. This event of a Muslim emperor opting for Jain rituals and priests to ‘cure’ his family problems was in a big way a socially assimilative process as well. The Jain pontiff Bhānucandra entrusted the responsibility of management of this ceremony to Than Singh, the Jain community leader of city of Agra. A public image and perception had to be created to establish a long term effect of this assimilation. Thus a vast hall was temporarily created near the Jain *upāśraya*. A large congregation of people out of curiosity thronged to the hall which proved too small to meet such onrush. It was an occasion for the political alignments as well. The Emperor sent an invitation to Mantri Karamacandra Bacchāvata, the leading member of *Kharatar Gaccha* respected by him to attend the ceremony. In fact, the description of the whole ceremony underlines the fact that social and religious ceremonies had multi dimensional role for the contemporary society.

Than Singh together with others performed the ceremony in honour of Jain *Tīrthanīkar* Suparśavnatha. Both Akabar and Salīm stood in front of the *Jina* idol and listened to the recitation of *Bhaktāmara Stotra*, a sacred hymn in Sanskrit by Mānatuṅga Ācārya in honour of Ādinātha *Jina*. It began with the word *Bhaktāmara* by *Bhānucandra*. The ceremony established the ritual supremacy of the Jain ritual practices, yet material hierarchical status of the royal family was not lost in the process. As soon as the ceremony was over the Emperor stepped into the outer court (*raṅga- maṇḍapa*) and stood there in front of *Bhānucandra*. Prince Salim stood near him. Than Singh presented elephants and horses to the Emperor. Mantri Karamacandra followed suit, and presented to the heir apparent a pearl necklace worth thirteen hundred gold *moharas*. Other members of the Jain community also showered presents of gold ornaments and gold-embroidered cloths. Then the Emperor took some *snatra*-water from gold pot and reverently applied it to his eyes and passed the rest to the harem. He then made gifts of gold *moharas* to all and permitted by the pontiff returned to his palace. From that time onwards the Emperor and his son were blessed with added happiness.<sup>20</sup> Thus the spiritual superiority of the Jain priests regained through the ritual healing of the evils looming large over the royal family was lost in the temporal authority of the royalty. This supremacy was recognized through the gifts given by the Jain community members to the Emperor and his son.

The miraculous rituals and healings had to be highlighted to construct the 'divine images' of the Jain pontiffs. Sacrifice by the devotee/beneficiary was an inherent part of the ritual and healing. In western port city of Khambat (now Cambay) a couple Ratanapāl Dośī and *Tanka* had a son Rāmaji suffering from an unknown disease. In one of the visits of Jain pontiff Hīravijaya Sūrī to the city, Ratanapāl requested the Sūrī that if his son is cured of his disease he (the son) would be made disciple of the Sūrī. The pontiff performed certain rituals and within few days the boy was cured of his disease. But this contract of cure in lieu of a perspective disciple could not

materialize as the family backtracked from the promise.<sup>21</sup> *Hīravijaya Sūrī* could even cure snake bites with his touching effect.<sup>22</sup> But the use of magical powers for healing purposes was cautious and guarded. Here one can certainly say that Jain pontiffs were very well aware of establishing their image as a pontiff and higher than that of a magician. In one of the meetings between the Emperor *Akbar* and *Hīravijaya Sūrī* in 1580s, mperor requested *Hīravijaya Sūrī* to remove the evil effects of planet Saturn from his sun sign Pisces. The *Sūrī* clearly answered that his discipline is religion and not astrology and refused to suggest any astronomical remedy for the purpose. It is very much clear that the *Sūrī* wanted to maintain his higher status of a religious authority then that of a mere astrologer.<sup>23</sup> But the Jain pontiffs of lower status did not hesitate to use their miraculous power for the purpose of healing.

To conclude, pre- modern societies embedded social power of rituals and the resulting processes of healing to their contemporary religious philosophies. In case of medieval Jainism providing relief to the individual and community through the agency of rituals remained a well established practice. Temples and their idols and their connection to the devotees not only fulfilled the obligation of charity (*dāna*) and public service but also helped to satisfy the individual's need for achieving the proper mental attitude for moral guidance by following the proper rituals. The Jain religious composers and authors intentionally emphasized upon the links between used rituals and the resulting healing to strengthen the ties and hierarchies between their *gacchas* and particular castes and clans. So the organized sects and their propagators performed rituals and acts of healing to enhance their influence as well to gain legitimacy. The ritualism of Jains and aspects of healing associated with it at times seems to be ambiguous as theoretically Jainism neither favoured miracles nor approved use of rituals for such purposes. Yet while considering ideological moorings of any individual, sect or institution either religious or secular, one has to remember that it never totally reflects into the empirical reality.

## References

1. Meredith.B. McGuire, “*Ritual, Symbolism and Healing*”.*Social Compass*, XXXIV: 4, (1987), pp. 365-379.
2. Peter Freund, *The Civilized Body: Social Domination, Control and Health*, (Philadelphia: Temple University Press, 1982).
3. John E. Cort, “*Models of and for the study of the Jains*” *Method & Theory in the Study of Religion*, 2:1, (1990), pp. 42-71; Idem, “*Genres of Jain History*” *Journal of Indian Philosophy*, 23: 4, (1995), pp. 469-506; Idem, *Jains in the World. Religious Values and Ideology in India*, (New York: OUP, 2001); Phyliss Granoff, “*Being in the Minority: Medieval Jain Reactions to other Religious Groups*”, in N.N. Bhattacharya (ed.), *Jainism and Prakrit in Ancient and Medieval India*, (Delhi:Manohar, 1994), pp.257-265; Idem, “*Other People’s Rituals: Ritual Eclecticism in Early Medieval Indian Religions*”, *JIP*,28:4, (August, 2000), pp. 399-424; Idem, “*My Rituals and My Gods: Ritual Exclusiveness in Medieval India*”, *JIP*, 29:1-2, (2001), pp. 109- 134; Peter Flugel, “*The Invention of Jainism: A Short History of Jaina Studies*” *Journal of Jaina Studies* ,11, (2005), pp.1- 19; Idem, “*Jainism and society*” *Bulletin of School of Oriental and African Studies*,69:1, (2006), pp. 91-112; Paul Dundas, *The Jains*,(London: Routledge, 1992);Idem, *History, Scripture and Controversy in a Medieval Jain Sect*, (London: Routledge, 2007).
4. The four deeply venerated medieval pontiffs belonging to the *Kharatar Gaccha* of Jain *Śvetāmbara* sect.
5. Nathubhai Shah, *Jainism: The World of Conquerors*, Vol. I, (Delhi: Motilal Banarsidass, 2004), p. 170.
6. Paul Dundas, *History, Scripture and Controversy in a Medieval Jain Sect*, (London: Routledge, 2007).
7. John.E. Cort, *Jains in the World: Religious Values and Ideology in India*, (New York: OUP, 2001), pp. 108-111.
8. Jinvijay ed., *Prācīn Jain Lekh Sangrah*, (Bhavnagar: 1917);Idem, *śatrunjayatīrthodvārprabandha*, Kantivijay Jain Itihaas Mala Vol.3, (Bhavnagar: 1916);Idem, ed., *Vijaydev*



- Mahatayam*, in Jain Sahitya Sanshodhak Granthmala, Vol. I, (Ahmedabad: 1928); Idem, ed., *Khartaṛ Gaccha Pattāvali Saṅgraha*, (Calcutta: 1932); Idem, ed., *Khartaṛgaccha Bṛhad Guruvāvali, Singhi Jain Granthmalal (SJG)*, Vol. 42, (Bombay: 1956); Idem, ed., *Vijnapti Lekha Saṅgraha*, Vol. I, *SJG* (Bombay: 1960).
9. C.H.Tawney, trans., *The Prabandhacintāmaṇi or Wishing Stone of Narratives Composed by Merūtuṅga Ācārya. Bibliotheca Indica*, Vol.141, Calcutta, Asiatic Society, (1899), pp. 105-106.
  10. L.A. Babb, “*Monks and Miracles: Religious Symbols and Images of Origin among Osvāl Jains*”, *The Journal of Asian Studies*, 52:1, (February 1993), p. 11.
  11. Agarchand Nahta and Bhanwarlal Nahta, *Jainacharya Pratibhodit Gotra evam Jātiyān*, (Palitana: Shri Jīnharisāgarsūri Gyan Bhandar, 1978), p. 42.
  12. Agarchand Nahta and Bhanwarlal Nahta, *Yugpradhan Shri Jīnchandasūri*, Shri Abhay Jain Granthmala, Vol.7, (Calcutta:1935), pp.108-109.
  13. R. Williams, *Jain Yoga*, (Delhi:Oxford, 1963), p. 279.
  14. Jinprabha Suri was a fourteenth century leader of the *Khartaṛ Gaccha* sect of the *Śvetāmbara* sect of the Jains. He was acquaintance of Sultan Muhammad bin Tuglaq of Delhi from whom he secured many concessions for the Jain community.
  15. Jinprabha Sūri, *Vividhatīrthakalpa*, Vol. I, ed., Jinvijay, *SJG*, (Shantiniketan: 1931), pp. 107- 108.
  16. Upadhaya Vinayvijaya and Mahopadhaya Yashovijaya, *Śri Śripāla Rājā no Rāsa*, (Ahmedabad: Shri Jain Prakashan Mandir), 1997.
  17. Nathuram Premi, *Jain Sahitya aur Itihaas*, (Bombay: 1956), pp. 294-295; Pandit Hiralal Jain, ed., *Pujanpatha Pradip*, 1967).
  18. Banarsīdāsa, *Ardhakathānak*, (1641), Text, translated, introduced and annotated by Mukund Lath, *Ardhakathānak: Half a Tale*, (Jaipur: Rajasthan Prakrit Bharati Sansthan, 1981), Appendix II, Verses 78- 80, p. 230.
  19. Shalin Jain, “Socio- Economic Dimensions of Jain Community Under the Mughals, 1578- 1658”, Unpublished

Ph.D. Dissertation, University of Delhi, 2010.

20. Upadhyaya Siddhacandra Gaṇi, *Śrī Bhānucandragāṇi Caritam*, ed., Mohanlal Dalichand Desai, SJG, No. 15, (Bombay 1931) Canto II, Verses 140- 168, pp. 19- 21.
21. Muniraj Vidyavijaya, *Sūrisvara aur Samrāta Akbar*, trans. Krishnalal Verma, (Agra: Shri Vijaydharmalakshmi Gyan Mandir, 1923), pp. 27- 28.
22. Ibid., p. 31.
23. Ibid., pp. 119- 120.

### Primary Sources

1. Banārasīdāsa, *Ardhakathānaka*, (1641), Text, translated, introduced and annotated by Mukund Lath, *Ardhakathānaka: Half a Tale*. (Jaipur: Rajasthan Prākṛit Bharati Sansthan, 1981).
2. Jinprabha sūri, *vividhatīrhakalpa* (Shantiniketan: Singhi Jain Granthmala, 1931)
3. *Jinavijaya*, ed., *Śatrunjayatīrthodhāvarprabandh*, Vol. 3. (Bhavnagar: Kantivijay Jain Itihāsa Mala, 1916).
4. *Jinavijaya* ed., *Kharatara Gaccha Pattāvali Saṅgraha*, (Calcutta: 1932)
5. *Jinavijaya* ed., *Prāchīna Jaina Lekha Saṅgraha*, (Bhavnagar: 1917)
6. *Jinavijaya* ed., *Vijaydev Mahatayam*, (Ahmedabad: Jain Sahitya Sanshodhak Granthmala, Vol. I, 1928).
7. *Jinavijaya*, ed., *Kharatargaccha Bṛhad Gurvāvalī*, SJG, Vol. 42, (Bombay: Singhi Jain Granthmala, 1956).
8. *Jinavijaya*, ed., *Vijnapti Lekha Saṅgraha*, Vol. I, SJG (Bombay: 1960).
9. Upadhyaya Vinayvijaya and Mahopadhyaya Yashovijaya, *Śrī Śrīpāla Rājāno Rāsa*, (Ahmedabad: Shri Jain Prakashan Mandir, 1997).
10. Upadhyaya Siddhacandra Gaṇi, *Śrī Bhānucandragāṇi Caritam*, ed., Mohanlal Dalichand Desai, SJG, No. 15, (Bombay: 1931).

### Secondary Sources

1. Agarchand Nahta and Bhanwarlal Nahta, *Jainācārya Pratibodhit Gotra evam Jātiyān*. (Palitana: Śrī Jinaharisagarsūri Gyan Bhandar, 1978).

2. Babb, L.A., "Monks and Miracles: Religious Symbols and Images of Origin among Osval Jains", *The Journal of Asian Studies*, 52, no.1, (February 1993):pp.3-12.
4. Cort, John E., "Genres of Jain History" *Journal of Indian Philosophy*, 23, no. 4, (1995): pp.469-506.
5. ...., "Models of and for the study of the Jains" *Method & Theory in the Study of Religion*, 2, no.1, (1990):pp.42-7
6. ...., *Jains in the World. Religious Values and Ideology in India*, (New York: OUP, 2001).
7. Dundas, Paul, *History, Scripture and Controversy in a Medieval Jain Sect*, (London: Routledge, 2007).
8. ...., *The Jains*. (London: Routledge, 1992). Flugel, Peter, "Jainism and society" *Bulletin of School of Oriental and African Studies*, 69, no.1, (2006): pp.91-112;
9. ...., "The Invention of Jainism: A Short History of Jaina Freund, Peter, *The Civilized Body: Social Domination, Control and Health*. (Philadelphia: Temple University Press, 1982).
11. Granoff, Phyliss. "Being in the Minority: Medieval Jain Reactionsto other Religious Groups", in the *Jainism and Prakrit in Ancient and Medieval India : Essays for Prof. Jagdish Chandra Jain*, edited by N.N. Bhattacharya, pp.257 265, ( Delhi: Manohar, 1994).
12. ...., "My Rituals and My Gods: Ritual Exclusiveness in Medieval India", *Journal of Indian Philosophy*, 29, nos. 1-2, (2001):pp.109-134.
13. ...., "Other People's Rituals: Ritual Eclecticism in Early Medieval Indian Religions", *Journal of Indian Philosophy*, 28, no. 4, ( August, 2000):pp. 399-424.
14. Jain, Pandit Hiralal , ed., *Pujanpatha Pradip*. (Delhi: Shri Parshwnath Digambar Jain Mandir, 1967).
15. Mc Guire, Meredith.B., "Ritual, Symbolism and Healing", *Social Compass*, XXXIV, no. 4, (1987): pp.365- 379.
16. Muniraj Vidyavijaya, *Surishwar aur Samrat Akbar*, trans. Krishnalal Verma, (Agra: Shri Vijaydharmalakshmi Gyan Mandir, 1923).
17. Agarchand, Nahta and Bhanwarlal Nahta, *Yugpradhan Shri*

*Jinacandrasūrī*, Shri Abhay Jain Granthmala, Vol.7,  
(Calcutta:1935).

Premi, Nathuram, *Jain Sahitya aur Itihaas*, (Bombay: Hindi  
Grantha Ratnakar, 1956).

R. Williams, *Jain Yoga*, (Oxford:OUP, 1963).

Shah, Nathubhai, *Jainism: The World of Conquerors*, Vol. I,  
(Delhi: Motilal Banarsidass, 2004).

Jain, Shalin, “*Socio- Economic Dimensions of Jain  
Community Under the Mughals, 1578-1658*”, Unpublished  
Ph.D. Dissertation, University of Delhi, 2010.

Tawney, C.H., trans., *The Prabandhacintāmaṇi or Wishing  
Stone of Narratives*, Composed by *Merūtunga Ācārya*.

*Bibliotheca Indica*, 141, Calcutta: Asiatic Society, (1899):  
pp.105-106.

\*\*\*\*\*

## जिज्ञासा और समाधान

**जिज्ञासा** - जैन धर्म में उपवास का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। नेचुरोपैथी (प्राकृतिक-चिकित्सा-पद्धति) में स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। जैन बाह्य तपों के छह भेदों में से प्रथम चार भेद किसी न किसी रूप में भोजन त्याग से सम्बन्धित हैं। कृपया उपवास का सही अर्थ बतलाएँ जिससे उसका सही लाभ प्राप्त किया जा सके।

### शीलचन्द्र जैन, वाराणसी

**समाधान** - सामान्य रूप से लोग 'उपवास' का अर्थ 'दिन (दिन और रात्रि) भर के लिए अन्न-जल-फलादि त्याग' समझते हैं। इस प्रकार के उपवास को 'निर्जल उपवास' भी कहते हैं। जैनैतर परम्पराओं में कुछ लोग दिनभर (सूर्योदय से सूर्यास्त तक) तो कुछ नहीं लेते परन्तु रात्रिभर खाते-पीते रहते हैं। कुछ लोग अन्न (गेहूँ, चावल आदि) को त्याग करके फलाहारी (फल, आलु, कुट्टू का आटा आदि) करते रहते हैं। वस्तुतः उपवास का सही रूप है जिसमें चारों प्रकार के आहार (खाद्य, लेह्य, पेय और स्वाद्य) के त्याग के साथ पांचों इन्द्रियों के विषय-भोगों का तथा चारों कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) का भी त्याग हो। इसके अतिरिक्त सांसारिक प्रपञ्चों से दूर होकर शान्त भाव से स्वाध्याय-मनन या ईश्वर-प्रणिधान में चित्त को लगाया जाना भी आवश्यक है। इसके अभाव में 'लंघन' तो हो सकता है उपवास नहीं। अतिव्यस्तता के कारण भोजन न मिल पाने से भी उपवास नहीं होता है क्योंकि भोजन त्याग की भावना नहीं है। इस प्रकार कहा भी है-

**विषय कषायारम्भत्यागो यत्र विधीयते।**

**उपवासः सो विज्ञेयः शेषं लंघनकं का विदुः॥**

जैन धर्म में उपवास का बड़ा महत्त्व है। जैन सन्तों में भगवान् आदिनाथ (प्रथम तीर्थंकर) ने छःमास का लगातार उपवास किया था तथा नियमानुसार आहार न मिलने पर पुनः छः मास का उपवास किया था। संसार बन्धन के कारणभूत कर्मों की निर्जरा करने के लिए उपवास को यद्यपि बाह्य तपों में गिनाया गया है परन्तु वही उपवास जब अन्तर्ध्यान या धर्मध्यान के साथ जुड़ जाता है तो वह आभ्यन्तर तप कहलाने लगता है। जैन ग्रन्थों में उपवास को 'अनशन' (न+अशन=अन्नभक्षण) भी कहा गया है। साथ में यह भी कहा गया है कि इसे शक्ति के अनुसार करना चाहिए।

ऐसा उपवास न कर सकने पर एकाशन (दिन में १ बार भोजन लेना) या अवमौदर्य (भूख से कम खाना) या वृत्तिपरिसंख्यान (नियम विशेष की आकड़ी लेकर भोजन लेना) या रसपरित्याग (खट्टा-मीठा आदि कुछ रसों का त्याग करना, रूखा-सूखा उबला भोजन करना) करने का विधान है। इन सभी प्रकारों में भूख से कम खाना (कम से कम १/४ भाग पेट का खाली रखना) आवश्यक है। 'ऊनोदर्य' उपवास से भी कठिन है जिसकी चर्चा अन्य प्रसंग में करेंगे। उपवास को 'प्रोषधोपवास' भी कहा गया है जिसमें प्रथम दिन १बार भोजन किया जाता है। प्रोषध का अर्थ पर्व (अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व।) भी किया जाता है। अर्थात् उन तिथियों में उपवास करना प्रोषधोपवास है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इस उपवास के महत्त्व को समझा था तथा प्रयोग भी किया था। यदि उपवास को सात्विक विधि से किया जाता है तो शरीर की बहुत सी बीमारियों से बचा जा सकता है। आयुर्वेद में भी इसका महत्त्व प्रतिपादित है। एलोपेथी में भी कुछ परिस्थितियों में अन्न, जल-ग्रहण का निषेध किया जाता है। दिगम्बर जैन साधु तो नियम से बारह महीना एकाशना करते हैं और बीच-बीच में पूर्ण सात्विक उपवास भी करते हैं, इसीलिए बीमारियों से बचे रहते हैं। आज जैन समाज में कई ऐसे गृहस्थ भी हैं जो १-१ मास का उपवास करते हैं। पर्युषण (दशलक्षण) पर्व पर तो बहुत से साधक १दिन, ५दिन या १० दिनों का लगातार उपवास रखते हैं। उपवास से हमारा कोलोस्ट्रोल कम होता है। इसलिए स्थूल शरीर वालों को कम खाने की हिदायत दी जाती है। नेचुरोपैथी में तो उपवास आदि क्रियाओं के माध्यम से ही शरीर के विकारों का शोधन करके व्यक्ति को निरोग किया जाता है।

उपवास का सही फल तब नहीं मिलता है जब व्यक्ति पहले दिन टूंस-टूंस कर खा लेता है, उपवास के दिन सात्विक विचार नहीं रखता है, सांसारिक कार्यों को करता रहता है। उपवास के दूसरे-तीसरे दिन विधिपूर्वक (संयम के साथ) आहारादि लेता है क्योंकि आगे भी नियमों का पालन आवश्यक है।

उपवास यदि विधिवत् तथा अनुभवी गुरु की देखरेख में नहीं किया जायेगा तो लाभ के स्थान पर हानि भी संभव है क्योंकि उपवास के बाद गरिष्ठ और अतिभोजन से आंतें चिपक सकती हैं। किसे करना चाहिए और कब करना चाहिए यह भी जानना चाहिए।

इस तरह सही उपवास वही है जिसमें व्यक्ति जितेन्द्रिय विषय भोगों तथा लोभादि कषायों से विरक्त) होता है। जितेन्द्रिय वीतरागी व्यक्ति भोजन करते हुए भी उपवासी

कहलाता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा भी है-

**उवसमणो अक्खाणं उववासो वण्णदो समासेण।**

**भुजंता वि य जिदिंदिया होति उपवासा।।४३९।।**

अर्थ- तीर्थङ्कर गणधरादि मुनीन्द्रों ने उपशमन (इन्द्रियों की आसक्ति पर विजय) को उपवास कहा है। इसीलिए जितेन्द्रिय मुनि भोजन करते हुए भी उपवासी कहलाते हैं। इसतरह उपवास में पांचों इन्द्रियों को संयमित करके शान्त परिणामी होना आवश्यक है। इसी आशा के साथ-

प्रो० सुदर्शन लाल जैन

\*\*\*\*\*

## पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार

**Wanted scholars, support staff for Jain studies & Research**

### **Research Scholars (2 to 4 Positions)**

Scholars in Jainism with MA or Ph.D. degrees having 1 to 25 years of demonstrable research and teaching experience in Jain philosophy, ethics, application of Jain doctrine in modern day life situations, science and spirituality. Retired or retiring scholars or faculty members from reputed universities are also welcome for full time or part time positions.

Scholars with working to good knowledge of English and computer usage will be preferred. The positions exist in Delhi and Varanasi with potential to have overseas short term postings and teaching foreign scholars. Salary will be commensurate with experience and accomplishments.

The school established in 2005 is engaged in taking academic studies of Jainism to the universities globally. Last year it developed and delivered very successfully a program on '*doctrine and application of ahinsa*' in schools to enhance general wellness of students and teachers .

### **Support staff**

Word processing operators (Hindi and English) who are well versed in MS-Office tools.

### **Social Projects**

Positions are also available for mature Jains to work on social projects like empowering the underprivileged Jains for ISJS affiliate Jaina India Trust.

Interested candidates are requested to send their application within 15 days to Chairman, International School for Jain Studies. D-28 Panchsheel Enclave, New Delhi- 110017 Email : [isjs india@yahoo.co.in](mailto:isjsindia@yahoo.co.in), [www.isjs.in](http://www.isjs.in)



### **आचार्य श्री नानेश समता पुरस्कार समारोह-**

आचार्य श्री नानेश समता पुरस्कार समारोह, ६, जनवरी, २०१३ को गुवाहाटी में सम्पन्न हुआ। श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर द्वारा परम् श्रद्धेय आचार्य-प्रवर १००८ श्री नानालालजी म. सा. की पावन स्मृति में स्थापित आचार्य श्री नानेश समता पुरस्कार समारोह असम की राजधानी गुवाहाटी में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन विद्वान् प्रो. सागरमल जैन, शाजापुर एवं प्रख्यात समाजसेवी, उदारमना, दानवीर, श्री हरीसिंह जी रांक, मुम्बई को अत्यन्त गरिमामय एवं हर्ष के वातावरण में प्रदान किया गया। पुरस्कार के अन्तर्गत रुपये २,०००,००/- नकद और प्रशस्ति पत्र सेठ शेरमल फतेचन्द डागा ट्रस्ट, गंगाशहर के द्वारा प्रदान किया गया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ अपने पूर्व निदेशक एवं मानद सचिव, प्रो. सागरमल जैन के इस विशिष्ट सम्मान हेतु गौरवान्वित है।

### **श्रमण पाठकों की दृष्टि में :-**

श्रमण पाठक डॉ. एन. के. खींचा की दृष्टि में 'श्रमण' Oct.-Dec. 2012 अत्यन्त सारगर्भित है। इस अंक में विशेष रूप से डॉ. रविशंकर जी गुप्ता का आलेख (पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का विकास) एवं सतेन्द्र कुमार जैन का आलेख (लोकानुप्रेक्षा में वास्तुविद्या) ज्ञानवर्धक एवं रोचक है।

**तपागच्छाधिराज पू.आ.श्री. विजय रामचन्द्र सुरेश्वरजी महाराजा की दीक्षाशताब्दी के उपलक्ष्य में श्री नंदप्रथा धार्मिक ट्रस्ट द्वारा पार्श्वनाथ विद्यापीठ को आर्थिक सहयोग :-**

पार्श्वनाथ में अध्ययन हेतु विराजित विद्वान् मनीषी पू. मुनिराज श्री प्रशमरति विजय जी म.सा. की प्रेरणा से मुम्बई के श्री नंदप्रभा धार्मिक ट्रस्ट ने विद्यापीठ की गतिविधियों के संचालन हेतु एक लाख रुपये की सहयोग राशि प्रदान की है। पिछले दिनों पू. मुनिराज श्री प्रशमरति विजय जी म.सा. के भक्त सुश्रावक परेशभाई सेठ मुम्बई से यहाँ पधारे थे उन्होनें यहाँ की गतिविधियों में गहरी रुचि ली थी। विद्यापीठ प्रबन्ध मण्डल विशेषतः अध्यक्ष श्री रमेश चन्द बुरण एवं प्रेसिडेण्ट डॉ. शुगन चन्द जैन जी पू. मुनिश्री प्रशमरति विजयजी म.सा. तथा सुश्रावक परेशभाई सेठ दोनों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

**श्री सुमतिनाथ जैन संघ नागपुर का विद्यापीठ पुस्तकालय के जीर्णोद्धार एवं संवर्धन हेतु आर्थिक सहयोग:-**

पू. मुनिराज श्री प्रशमरति विजयजी म.सा की प्रेरणा से श्री सुमतिनाथ जैन संघ, नागपुर ने विद्यापीठ पुस्तकालय के जीर्णोद्धार एवं संवर्धन हेतु रु.एक लाख आर्थिक

सहयोग राशि समर्पित की है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से हार्दिक आभार।

**प्रो. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी १७वें आचार्य हेमचन्द्र सूरी सम्मान से सम्मानित :-**

दिनांक १७ मार्च, २०१३ को दिल्ली में इण्डिया इण्टरनेशनल, सेण्टर (एनेक्सी) में आयोजित भव्य समारोह के प्रो. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी को १७वें आचार्य हेमचन्द्र सूरी सम्मान से सम्मानित किया गया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार प्रो. तिवारी का इस उपलब्धि से गौरवान्वित है। प्रो. तिवारी को हार्दिक बधाईयां।

**नवदिवसीय प्राकृत भाषा पाठशाला (दिनांक फरवरी १६-२४, २०१३):-**

प्राकृत एवं जैन विद्या के क्षेत्र में उच्चस्तरीय शोध एवं प्रकाशन के क्षेत्र में प्रख्यात, का०हि०वि०वि० द्वारा पी-एच०डी० हेतु मान्यता प्राप्त पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा कौस्तुभ जयन्ती के उपलक्ष्य में प्राकृत भाषा पर एक पाठशाला का आयोजन किया गया। पू. आचार्य श्री विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महा. की दीक्षा शताब्दी के उपलक्ष्य में देवर्द्धि परिषद्, नागपुर के प्रेरक पू. मुनिराज श्री प्रशमरति विजय जी म.सा. के सौजन्य से इसका आयोजन किया गया। इस पाठशाला के निदेशक, गुजरात विश्वविद्यालय के एसोसिएट प्रोफेसर डॉ. दीनानाथ शर्मा एवं संयोजक पार्श्वनाथ विद्यापीठ के एसोसिएट प्रोफेसर डॉ. अशोक कुमार सिंह थे। डॉ. राहुल कुमार सिंह सह-संयोजक थे। १६ फरवरी को राष्ट्रीय प्रोफेसर महेश्वरी प्रसाद ने इस पाठशाला का उद्घाटन किया।

इस पाठशाला में कुल ६३ प्रतिभागियों ने भाग लिया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, तिब्बत इंस्टीच्यूट, सारनाथ, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के छात्रों ने इसमें भाग लिया। इसमें संस्कृत विभाग, दर्शन एवं धर्म विभाग, प्राचीन इतिहास, कला एवं संस्कृति विभाग, पालि एवं बौद्ध दर्शन विभाग, हिन्दी विभाग तथा धर्म विज्ञान संकाय के पी.एचडी. उपाधि प्राप्त, शोध छात्र और स्नातकोत्तर के छात्रों ने भाग लिया। पू. प्रशमरति विजय जी म. सा., डॉ. दीनानाथ शर्मा एवं डॉ. अशोक सिंह ने पाठशाला में अध्यापन का दायित्व निभाया। प्रतिभागियों के मूल्यांकन हेतु अन्तिम दिन उनकी मौखिक परीक्षा ली गयी।

\*\*\*\*

## जैन जगत्

### पन्द्रहवां महावीर पुरस्कार- परिणाम घोषित

भगवान् महावीर फाउण्डेशन द्वारा पन्द्रहवें महावीर अवार्ड का वितरण तमिलनाडु के राज्यपाल महामहिम डॉ० के रोसेय्या के करकमलों द्वारा चेन्नई स्थित चिन्मया हेरिटेज सेण्टर में विशाल जनमेदिनी के समक्ष सम्पन्न हुआ। यह सम्मान प्रति वर्ष चार पुरस्कार के रूप में अहिंसा का शाकाहार, शिक्षा तथा सामाजिक उत्थान एवं सेवा के क्षेत्र में विशेष योगदान देने वाले व्यक्तियों/संस्थाओं को दिया जाता है। इस वर्ष यह पुरस्कार निम्नलिखित क्षेत्रों में प्रदान किया गया -

**१-अहिंसा व शाकाहार - डॉ० चिरंजिलाल बागड़ा, कोलकाता**  
६६ वर्षीय डॉ० चिरंजिलाल बागड़ा, पिछले कई दशकों से अहिंसा व शाकाहार के क्षेत्र में अनुकरणीय एवं अभिनन्दनीय सेवाएं देते आ रहे हैं। आपने १९९१ में राष्ट्रीय एकता पुरस्कार, १९९७ में अहिंसा अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार तथा २००६ में अहिंसा रत्न पुरस्कार भी प्राप्त किया है।

**२- चिकित्सा - डॉ० अनन्त सिन्हा, रांची :**  
४९ वर्षीय झारखण्ड निवासी अनन्त सिन्हा पुणे आर्मी कॉलेज से प्रशिक्षित हैं। आपने अपना कार्य पुणे के बंडोरावाला लेप्रेसी अस्पताल से प्रारम्भ किया। सन् २००८ में झारखण्ड (रांची) में सहकर्मी डॉक्टरों के साथ आपने देवकमल अस्पताल की स्थापना की। ३१ जनवरी, २०१२ तक इस अस्पताल में कुल ८७०० मरीजों का दाखिला हुआ तथा ७५०० से अधिक मरीजों का ऑपरेशन हुआ। डॉ. सिन्हा ने अब तक कुष्ठ रोग से पीड़ित १००० से भी अधिक मरीजों की रिकंस्ट्रक्टिव सर्जरी की है।

**३- शिक्षा : कलिंगा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेस् , उड़ीसा :**  
सन् १९९३ में ४७ वर्षीय डॉ० अच्युत सामन्ता ने भुवनेश्वर, उड़ीसा में १२५ आदिवासी विद्यार्थियों से कलिंगा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल साइन्सेस् की स्थापना की। वर्तमान में यह संस्थान एक विश्वस्तरीय संस्थान बन चुका है जहां करीब १५५०० आदिवासी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा से स्नातकोत्तर तक शिक्षा प्रदान की जा रही है। इस संस्थान से अब तक ५०,००० से भी अधिक व्यक्ति लाभान्वित हो चुके हैं।

**४- सामाजिक उत्थान व सेवा - रामकृष्ण मिशन अस्पताल, अरुणांचल प्रदेश :**  
सन् १९७९ में स्वामी प्रथमानन्दा (प्रीति महाराज) द्वारा संस्थापित रामकृष्ण मिशन अस्पताल, इटानगर, अरुणांचल प्रदेश एक महत्त्वपूर्ण अस्पताल है जहां जरूरतमंद बाहरी मरीजों एवं १०,००० भीतरी आदिवासी मरीजों का इलाज किया गया है। विजेताओं को पुरस्कार में १०,००,००० (दस लाख) रुपये प्रशस्ति पत्र तथा स्मृति चिह्न मुख्य अतिथि द्वारा प्रदान किया गया।

**करुणा अंतर्राष्ट्रीय का १५वां राष्ट्रीय सम्मेलन एवं पुरस्कार वितरण समारोह:- २८, २९ दिसम्बर २०१२ को ए.एम.जैन कॉलेज, मीनम्बाक्कम चेन्नई ता.ना. में सम्पन्न:-**

करुणा अन्तर्राष्ट्रीय का १५वें राष्ट्रीय सम्मेलन एवं पुरस्कार वितरण समारोह में सेवा भास्कर के दृष्टिहीन बच्चों को करुणा अन्तर्राष्ट्रीय द्वारा २,५०० रु० की राशि से बच्चों को पुरस्कृत किया गया। इस अवसर पर सुराणा एण्ड इंटरनेशनल अटॉर्नीज चैरिटेबल ट्रस्ट के सौजन्य से 'आचार्य हस्ति करुणा रत्न अवार्ड'- १,००,००० रु० मय प्रशस्ति पत्र मुम्बई के श्री विनेश ममानिया को प्रदर्शनियों के माध्यम से करुणा भाव के प्रचार-प्रसार के लिए विशेष बेहतरीन सेवाएं देने के लिए तथा 'करुणा सेवा अवार्ड' २५,०० रु० मय प्रशस्ति पत्र, बीकानेर केन्द्र के अध्यक्ष श्री इन्द्रचंद्र दुगड़ को प्रदान किया गया।

**परमपूज्य प्रीतिसुधाजी म.सा. कैसर केयर सेंटर नासिक का भव्य उद्घाटन:-**  
परमपूज्य प्रीतिसुधाजी म.सा. कैसर केयर सेंटर नासिक का उद्घाटन १ जनवरी २०१३ को सम्पन्न हुआ। कैसर केयर सेंटर फाउण्डेशन ऑफ इण्डिया के संस्थापक एवं अध्यक्ष श्री वीरेन्द्र कुमार जैन इन्दौर ने कहा कि देश में यह तीसरा सेण्टर नासिक में प्रारम्भ किया गया है। पहले दो मुम्बई एवं बैंगलोर में चल रहे हैं जहाँ आने वाले प्रत्येक कैसर मरीज का १२ माह तक निःशुल्क इलाज किया जाता है। यदि आप भी अपने शहर में सेण्टर प्रारम्भ करना चाहते हैं तो (मो. ०९३२९७५५५९९) पर संपर्क कर सकते हैं।

**प्रतिष्ठाचार्य पं. विमलकुमार जैन सोरयां अभिनन्दन ग्रन्थ प्रस्तावित:-**  
आपको जानकर यह प्रसन्नता होगी कि भारत के ख्याति प्राप्त प्रतिष्ठाचार्य एवं विद्वद् जगत् के यशस्वी विद्वान् वाणीभूषण पं. विमलकुमार जैन सोरयां टीकमगढ़ (म.प्र.) की सामाजिक गतिविधियों, धार्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठा कार्यों की अमूल्य सेवाओं एवं जैन पत्रकारिता जगत् में उनकी महनीय उपलब्धियों के प्रति बहुमान व्यक्त करने के

लिए वीतरागवाणी सार्वजनिक न्यास ट्रस्ट (रजि.) भोपाल ने एक अभिनन्दन ग्रन्थ 'प्रतिष्ठा प्रज्ञ' प्रकाशित करने का निर्णय लिया है। विमलकुमार जैन सोरयां से संबन्धित संस्मरण, शुभकामना संदेश, चित्र या जैन दर्शन, प्रतिष्ठा या अन्य विषय पर शोध आलेख आदि संयोजक कार्यालय को यथाशीघ्र मार्च २०१३ तक प्रेषित किया जा सकता है।

**प्रो. डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर' अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन योजना:-**

प्राच्य भारतीय भाषाओं एवं श्रमण सांस्कृतिक तत्त्वों के तलस्पर्शी विद्वान् प्रो. डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर' एक मौन साधक और बहु आयामी व्यक्तित्व के धनी हैं। जिन्होंने अपना सारा जीवन जैन-बौद्ध साहित्य एवं संस्कृति की पवित्र अराधना में समर्पित कर दिया है। उनकी समग्र सेवाओं एवं योगदान के प्रारूपों पर विचार करते हुए श्री भारतवर्षीय दि. जैन तीर्थ संरक्षिणी महासभा ने अन्य सभी संस्थानों के सहयोग से एक वृहत्काय अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इस ग्रन्थ में उनसे सम्बद्ध संस्मरण, शुभकामनाएं, आलेख, चित्र तथा उनकी कृतियों पर समीक्षात्मक लेख प्रकाशित होंगे।

**श्री नरेन्द्र प्रकाश जी जैन का दुःखद अवसान**

दिनांक ५ मार्च, २०१३ के दिन सुबह ही श्री नरेन्द्र प्रकाशजी का दुःखद अवसान हो गया। मानो एक दीपक बुझ गया और अन्धकार छा गया। भारतीय विद्या के क्षेत्र में विश्व प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थान, मोतीलाल बनारसीदास के निदेशक, परिवार के वरिष्ठ सदस्य प्रकाशजी की विदाई अत्यन्त दुःखद एवं पीड़ादायक है।

श्री प्रकाश जी ने सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं यथा भोगीलाल लहेरचंद पुरा-विद्या संस्थान (BLII), श्री आत्म वल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधी, श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन तीर्थ, हरिद्वार, भगवान महावीर अस्पताल रोहिणी (दिल्ली) आदि के पदाधिकारी एवं आजीवन ट्रस्टी के रूप में अमूल्य सेवाएं दी। पार्श्वनाथ विद्यापीठ ईश्वर से प्रार्थना करता है कि उनकी आत्मा को सद्गति मिले।

## साहित्य सत्कार

### पुस्तक समीक्षा

**इन्दौर ग्रन्थावली (भाग- १)** संपादक- डॉ. अनुपम जैन, एवं ब्र. अनिल जैन शास्त्री, प्रकाशक- कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ ५८४, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर, पृ. ३९२, प्रकाशन वर्ष २०१२ई., मूल्य ३००रुपये ।

इस ग्रन्थ में विद्वान् सम्पादकों ने कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ के पुस्तकालय में उपलब्ध अप्रकाशित पाण्डुलिपियों का विवरण दिया है। राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहयोग से इसका प्रकाशन किया गया है। इसमें प्रथमतः ७३१ पाण्डुलिपियों का भौतिक विवरण दिया गया है तत्पश्चात् इसके प्रथम परिशिष्ट में जिन ७३१ पाण्डुलिपियों का भौतिक विवरण प्रारम्भ में दिया गया है उनको ही उसी क्रम से पाण्डुलिपि की प्रथम पंक्ति, अन्तिम पंक्ति, पुष्पिका, विषय एवं टिप्पणी देकर उपयोगी बनाया गया है। द्वितीय परिशिष्ट में उन्हीं का अकारादि क्रम से संयोजन किया गया है। इसके अतिरिक्त सम्पादकीय में इन्दौर नगर में विद्यमान् पाण्डुलिपि-संग्रहालयों से सम्बन्धित ४१ स्थानों की सूची तथा वहाँ विद्यमान् पाण्डुलिपियों की संख्या दी गई है। ग्रन्थ के अन्त में मध्यप्रदेश के जैन शास्त्र-भण्डारों में उपलब्ध पाण्डुलिपियों का जिलेवार सर्वेक्षण दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को देखने से ज्ञात होता है कि यहाँ पर जैन तथा जैनेतर सभी प्रकार के ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है। इसमें अध्यात्म, पुरातत्त्व, ज्योतिष, दर्शन, काव्य, पूजा आदि विविध विषयों से सम्बन्धित उपयोगी सामग्री है। शोध हेतु सम्पादक तथा प्रकाशक दोनों का यह कार्य सराहनीय है।

प्रो. सुदर्शन लाल जैन

**बौद्ध प्रमाणमीमांसा (प्रत्यक्ष के विशेष संदर्भ में)** लेखक- डॉ. हरिशंकर सिंह (सेवानिवृत्त आचार्य भागलपुर विश्वविद्यालय), प्रकाशक- वेदांशी पब्लिकेशन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.), पृष्ठ-४८२, मूल्य-५०१रुपये।

बौद्ध-प्रमाणमीमांसा डॉ. हरिशंकर सिंह के बारह वर्षों के अथक प्रयास से शोध प्रबन्ध के रूप में ई. १९८५ में तैयार की गयी थी जिसपर भागलपुर विश्वविद्यालय से आपको पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त हुयी थी। इसका प्रकाशन सन् २०११ में हो चुका था। यह कृति महामण्डलेश्वर श्री गुरु शरणानन्द जी महाराज को समर्पित है जो लेखक के दीक्षा गुरु हैं बौद्ध-दर्शन के प्रमाण के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है। बौद्ध-दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रमाण के विषय में जो अवधारणायें हैं उनका उल्लेख करते हुए प्रत्यक्ष के ऊपर विशेष विचार किया गया है। लेखक ने ६० प्रश्नों की टिप्पणी अंकित की है जो उनके विस्तृत अध्ययन की परिचायक है। पुस्तक के मुख्यपृष्ठ पर जो द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद का चित्र अंकित किया गया है वह विषय के सर्वथा अनुरूप है। आपने चतुर्थ अध्याय में जैन दार्शनिक सुमति तथा अकलंक के प्रत्यक्ष के कल्पनापोढत्व परक का निराकरण किया है। किए गए आरोपों को बौद्ध सिद्धान्त की दृष्टि में रखकर बौद्धेतर भारतीय दार्शनिकों के साथ ज्ञान के साकार तथा निराकार होने का विचार करते हुए लेखक का झुकाव साकारवाद की ओर अधिक है। इससे लगता है कि लेखक के दार्शनिक चिन्तन में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दो मूर्धन्य आचार्यों प्रो. टी. आर. वी. मूर्ति और प्रो. सी. डी. शर्मा के विज्ञानवादी (Idealist) धारा का परोक्ष प्रभाव है।

हम लेखक के सराहनीय प्रयत्न का साधुवाद करते हैं और कामना करते हैं कि इसी तरह के गम्भीर विषयों पर आपकी लेखनी निरन्तर चलती रहे।

**प्रो. अरविन्द कुमार राय**

दर्शन एवं धर्म विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

## साभार प्राप्ति

पार्श्वनाथ विद्यापीठ को निम्न पुस्तकें साभार प्राप्त हुईं-

### १. श्री सम्यक्त्वविचार स्तवन

लेखक- पू. मुनि श्री न्याय सागर जी महाराज, प्रकाशक- शासन सिरताज सूरीरामचन्द्र दीक्षा शताब्दी समीति, मूल्य- ५०००।

### २. नमो अरिहन्ताणं (नवकारणा ११० अर्थ)

लेखक- पू. पन्यासप्रवर पू. कीर्ति विजय गणिवर, प्रकाशक- शासनसिरताज सूरीरामचन्द्र दीक्षा शताब्दी समीति, मूल्य- २५००।

### ३. वसुदेव हिंडी (गुजराती भाषांतर), प्रथम खण्ड

लेखक- वाचक श्रीसंघदास गणि, अनुवादक- प्रो. भोगिलाल जय चन्द्र भाई सांडेसरा प्रकाशक- शासनसिरताज सूरीरामचन्द्र दीक्षा शताब्दी समीति, मूल्य- २५०००।

### ४. शासनसिरताज सूरीरामचन्द्र

संपादक- पू. आचार्य श्री विजय कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराज, प्रकाशक- शासनसिरताज सूरीरामचन्द्र दीक्षा शताब्दी समीति, मूल्य- ५०००।

\*\*\*\*



## Our Contributors

**Prof. Marutinandan Prasad Tiwari**

Professor

Deptt. of History B.H.U., Varanasi

**Dr. Anand Prakash Srivastava**

Assistant Professor

Ganga Singh Mahavidyalaya, South Patkhauli

Maniyar, Baliya, (U.P.)

**Dr. Shriprakash Pandey**

Associate Professor

Parshwanath Vidyapeeth

ITI Road, Karaundi, Varanasi

**Dr. Pratyush Kumar Mishra**

B-78, Govindpur, Allahabad

**Dr. Shiv Shankar Srivastava**

Assistant Professor

Deptt. of History, A.S. Khanna Degree College

Allahabad

**Dr. Shugan C Jain**

President, Parshwanath Vidyapeeth,

D-28, Panchsheel Enclave

New Delhi- 110017

**Dr. Shalin Jain**

Assistant Professor

Guru Teg Bahadur Khalsa College,

University of Delhi, New Delhi

## ISJS WORKING PAPERS SERIES

International School for Jain Studies (ISJS) has started a working papers series for limited circulation. Duly referenced and well-written unpublished papers of 5,000-10,000 words are solicited from academics and others interested in any branch of Jain Studies. The papers should be written in english language. They might undergo minor editorial, revision and stylistic changes, if necessary. On acceptance of the paper, ISJS will provide a modest subsidy of Rs. 1,000.00 for word processing and mailing of the paper.

Kindly send your paper to the following address or through email for consideration by ISJS accompanied by a letter stating that the paper is original and unpublished.

Editors working paper series  
International School for Jain studies  
D-28 Panchsheel Enclave  
New Delhi- 110017  
Ph: 011-40793387  
Email: isjs\_india@yahoo.co.in

We look forward to a positive response to you at your earliest.

**Dr. Shugan C Jain**  
**Chairman, ISJS**